सहजानंद शास्त्रमाला

अध्यात्मसहस्री प्रवचन भाग 9

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

अध्यात्मसहस्री प्रवचन नवम भाग

संसारमें यह जीव अब तक अपनी रक्षाके लिए, अपने हित और आनन्दके लिए जगह जगह अनेक पदार्थोंमें अपना लगाव जोड़ जोड़कर श्रम करता आया, किन्तु इसने कभी भी अपने परमपिताकी सुध नहीं ली। वह परमपिता एक चैतन्यस्वभाव अनादि निधन सहज निश्छल जो इस मुझ उपयोगके विमुख होनेपर भी अलग होता नहीं है और मुझ उपयोगके सही हो जानेपर व्यक्तरूपमें अपना प्रसाद ला देता है। इस परमपिताकी सुध न लेनेसे, इसकी शरण न गहनेसे अब तक इसने लाखों योनियोंमें, लाखों करोड़ कुलोंके देहमें जन्म ले लेकर विडम्बनायें सहीं। उस ही परमशरण, परमपिता चैतन्यस्वभाव कारणसमयसार जो किसी भी ज्ञानी योगीको प्रियतम हो सकता हैं, जिससे प्रिय संसारमें और कुछ भी चीज नहीं है, उस ज्ञायक स्वभावका विशद वर्णन करनेके लिए अब इस परिच्छेदमें प्रयत्न किया जा रहा है। उस परमशरण, परमगुरु, परमदेव समयसार परमात्मतत्त्वका वर्णन करनेके लिए पहिले उसके अनर्थान्तिर शब्दोंका परिचय दिया जा रहा है। उसके कितने नाम हैं? उसके नाम तो कितने ही रखे जा सकते हैं। और १००८ नाम सहज सिद्ध सहस्रनामस्तोत्रमें बताये गए हैं जिनसे उसका परिचय होता है। नाम रखा जाता है परिचयके लिए। कुछ लेना देना हो, कोई काम हो ऐसे ही प्रयोजनसे तो उसका नाम रखा जाता है। नाम रखे बिना लेना देना किसी प्रकार बन नहीं सकता है, इसलिए उसका नाम तो रखा ही जाना चाहिए। तो उसके यद्यपि अनेक नाम हैं फिर भी कुछ प्रसिद्ध नाम बतला रहे हैं।

सामान्य आत्मा—इस अंतस्तत्त्वको यहाँ विशेष्य शब्दसे अंतस्तत्त्व कह लीजिए जिसका कि यहाँ नाम बताया जायगा। वह अन्तस्तत्त्व सामान्यात्मा है। सामान्य आत्मा का अर्थ है जो प्रतिक्षण, प्रतिकालमें, प्रतिपर्यायमें रह ही रहा है, वह कभी बदला नहीं है। जो बात अन्तः नहीं बदली है, परिवर्तन भीतर नहीं हुआ है उस स्वरूपकी दृष्टिसे कहा सामान्यात्मा। जो बात बदल गई, जिनका परिणमन हो गया उनको सामान्य न कहेंगे। वह सामान्य क्या हुआ? सब अवस्थाओंमें रहकर भी जो एकत्व कभी छूटा नहीं है, शाश्वत रहे उस एकत्वको कहते हैं सामान्य। वह सामान्य आत्मा सुधमें न आये, इसकी दृष्टिमें न आये, ऐसी संसारमें चीजें दो ही तो हैं—उत्थान और पतन, भ्रमण और मुक्ति, उलझन और सुलझन। तो उलझन और सुलझनके बीचकी बात देखेंगे तो बड़ीसे बड़ी दिखेगी और छोटी देखेंगे तो छोटीसे छोटी दिखेगी। बड़ी दिख रही है कब? जब उलझनें भरी हों तब। कितना बड़ा आवरण है, कितनी बड़ी विडम्बना है, कितने कठिन काम हो रहे हैं। चारों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

गतियोंमें भ्रमण, कीड़ा मकोड़ा आदिकके शरीरोंमें जन्म, कितनी-कितनी आकुलतायें, बहुत बड़ी चीज दिख रही है और जरा उस सुल्भनकी दृष्टिमें आया तो उसे लगा कि वहाँ तो एक जरासे नुक्ता बराबर ही काम था उल्टे और सुल्टे होनेका। दृष्टि ज्ञान, चारित्र, गुण, कला, वही सबके सब हैं। जरा भी थोड़ा बाहरकी ओर दृष्टि उन्मुख हो गयी बस यह सारी विडम्बना बन गयीं और कभी अपनी ओर उन्मुख हो गयी दृष्टि, तो सारा श्रेय अभिमुख है। सो इसकी इस उन्मुखता और परान्मुखतामें भी क्षेत्रकृत कुछ भी अन्तर नहीं आता। एक अंगुली है, इसको बाहरकी ओर मुड़ायें, संकेतमें लायें और अपने आपकी ओर संकेतमें लायें तो इसमें तो थोड़ा कुछ श्रम अथवा क्षेत्रकृत अन्तर आ जायगा, लेकिन इस उपयोगसे बाहरकी ओर मुख करनेमें और अन्दरकी ओर मुख करनेमें क्षेत्रकृत कोई अन्तर नहीं आता। तो अब ध्यानमें लाइये कि कितनी छोटीसी बात है जिसका कि इतना बतंगड़ बन गया है। अन्दरमें देखिये इसका उपाय भी कितना छोटासा है कि अनन्त संसारका भ्रमण भी ध्वस्त हो जायगा। उपाय भी क्या है? बस अपने उन्मुख हो जाय, यही तो उपाय है। मुख तो करेगा कहीं न कहीं। किसी न किसी ओर उपयोग तो होगा ही। तो आत्मामें चाल ही यह है, आदत यह है कि उपयोग करना। इससे आगे तो आत्माका दूसरा कुछ प्रयोजन नहीं। बाकी तो सब सोचनेका ऊधम है। तेरी चाल इतनी है कि तू उपयोग कर तो तेरी चाल तो नहीं काट रहे। अरे तू विश्रामपूर्वक बैठकर, वहींका वहीं रहकर, एक प्रदेश भी टससे मस न होकर, किसी भी प्रकारका जरा भी कष्ट न मानकर अपने आपके अन्दर गुप्त तो हो जा। तुझे कोई जरा भी बाहर खींचेगा नहीं, तू तो बस वहीं आरामसे रह, खुश रह, और वहींका वहीं रहकर एक विलक्षण उपयोगकी अभिमुखता कर ले। इस कामके करने पर तुझे कोई श्रम भी विशेष नहीं करना है। तेरे इस प्रयासका फल यह होगा कि संसार का इतना बड़ा बतंगड़ जो तेरे पीछे लगा फिर रहा है वह सब क्षणभरमें ही खतम हो जायगा। अरे इतनी बड़ी बात न कर सके तब तो फिर संसारका यह भटकना ही बना रहेगा। यहां उस सामान्यात्माकी बात बतला रहे हैं जो परमपिता परमशरण, लोकोत्तम, मंगल, सर्वस्वशरणभूत है उस सामान्य आत्माका वर्णन इस परिच्छेदमें आयगा।

चैतन्यस्वरूप—इस अन्तस्तत्त्वका नाम लोग चैतन्यस्वरूप कहते हैं, यह अन्तस्तत्त्व चैतन्यस्वरूप है। अन्तस्तत्त्वके मायने स्वयं निज भीतरी असली सही चीज, वह चैतन्यस्वरूप है। उसमें चेतनेका स्वभाव पड़ा है, वह रचा ही इसी प्रकार है, अनादिसे स्वयंसिद्ध ही इस तरहका हैं, उसमें कला ही यह है, चीज ही यह है। जैसे कोई प्रकाशस्वभावी रत्न है, उसे कहींसे कहीं उठाकर धर दो, पर वह प्रकाश बना ही रहेगा, रत्नका ऐसा स्वभाव ही है। वह स्वभाव जायगा कहां? ऐसे ही इस अन्तस्तत्त्वका स्वभाव ही है कि वह चेते

चैतन्यस्वभाव मात्र। तो ऐसे चैतन्यस्वभाव मात्र इस अन्तस्तत्त्वकी सुध लेनेमें ही हम आपका हित है। जिसने अपनी दृष्टि इस ओर की उसके लिए सब समस्या सुलझ जाती है। अभी तो लोगोंको कोई ठौर ही नहीं मिल रहा है कि हम किसको पकड़कर रह जायें, किसको मानकर रह जायें ? कहीं ठौर नहीं मिल रहा है। गृहस्थीमें, परिवारमें, धनिकोंमें, किन्हीं लोगोंमें, सब जगह देख लो—घरके स्त्री, पुत्र, माता, पिता, बन्धु, मित्र आदिकको मानते कि ये मेरे हैं, ये ही मेरे लिए सर्वस्व हैं, शरणभूत हैं, ये ही मेरे लिए सहाय हैं, इनसे मुझे कभी धोखा हो ही नहीं सकता, ये सब एक हैं, ऐसा मानकर जिसको ग्रहण किया है उसको ही स्वेच्छानुसार ग्रहण नहीं कर सकते। कषायें बनती हैं, बदलती हैं, मन-मोटाव होता है, अनुकूल प्रतिकूल बातें बनती हैं, आपसमें टूटाफाटी हो जाती है. इसमें क्या तत्त्व रखा है, ये मेरे कुछ भी हितरूप नहीं हैं, ऐसा सोचकर वे ही इष्ट परिजन विलग-विलग हो जाते हैं। बताइये जगतमें ऐसी कौनसी चीज है, धन वैभव सोना चाँदी रत्न, साम्राज्य आदिक कि जिसमें लगे ही लगे रहना चाहें, वहाँसे हटें नहीं, व्याकुल न हों ? तो कोई पद संसारमें ऐसा नहीं है, लेकिन अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान यह कारण-समयसार, यह अंतस्तत्त्व, यह सहजस्वरूप जो ज्ञानियोंको स्वसम्वेदन गम्य है, अज्ञानियोंको जिसका कुछ सम्वेदन नहीं हो पाता है ऐसा यह शरणभूत समयसार यह जिसकी दृष्टिमें आया. उसको फिर कभी बदलनेका भाव नहीं हो सकता कि अब इसको बदलकर और कुछ पकड़कर देखें। जिसने अपने अन्तःप्रकाशमान इस ज्ञायकस्वभावका ग्रहण किया है उसका यह निर्णय बना कि सदाके लिए बस मेरे लिए यही है अन्य कोई नहीं, उसका अनुभव भी होता है तो चेतनरूपमें होता है इस कारणसे वह चेतना स्वभावरूप है।

चेतन—इस शरण्य आत्माका नाम चेतन भी है, जो चेते सो चेतन। तो केवल चेतनके रूपमें निरखकर उसे पुकारो। दादा, मामाके रूपमें उसे मत निरखो, वह तो चेतन है, दादा मामा नहीं है, वह भिन्न-भिन्न पोजीशन वाला नहीं है। मेरा जो स्वरूप है उसी रूपमें उसे देखिये—यह मैं अन्तस्तत्त्व एक जाननेवाला हूँ। चेतन सामान्यतया जहाँ बन रहा हो वह मैं हूँ, यह विचार, ये विकल्प तरंग, ये परिचय, ये बाहरी सुध, ये सब मैं नहीं हूं। मैं चेतन हूं, इस चेतनका इस परिच्छेदमें वर्णन होगा—जिसका कि शरण गहकर संसारके ये सर्व संकट टाले जा सकते हैं।

ब्रह्म एवं परमब्रह्म—इस अन्तस्तत्वका नाम है ब्रह्म और परमब्रह्म। ब्रह्म शब्दसे यों कहते हैं कि यह अन्तस्तत्व अपने गुणोंसे बढ़ता हुआ स्वभाव रखता है। इसके गुण हैं ज्ञान, दर्शन, जानन देखन, प्रतिभास करना, तो ज्ञान ऐसा सन्तोष खुदमें नहीं भरा है कि मैं इतना ही ज्ञान करके रह जाऊँ, और मुझे जरूरत क्या है ? देखिये—ज्ञान करनेवाले

सम्यग्दृष्टि या वर्तमान स्थितिमें ज्ञानका धनी आत्मा तो संतोष कर लेगा, ज्ञानका मालिक यह आत्मा यह संतोष कर लेता है कि मुझे तीन लोकके पदार्थ जाननेसे क्या मतलब पड़ा है? स्वको स्व जाने, परको पर, लेकिन ज्ञानमें यह सब नहीं पड़ा है कि हमने थोड़ासा ही जान लिया बस काफी हो गया। अरे वह तो ब्रह्म है, उसके बढ़नेका स्वभाव पड़ा हुआ है, ठीक है, तुम कर लो सन्तोष कि मेरे लिए इतना ही ज्ञान काफी है और सम्यग्दर्शन होनेपर सम्यग्दृष्टिमें यह भाव बनता भी है। क्या करना? स्वको स्व जानो, परको पर जानो, ठीक है, अपने प्रयोजनसे ऐसा हो गया, मगर ज्ञानगुणमें स्वयंमें ऐसी अधूरी जैसी बात रखना संगत नहीं है। वह तो बढ़ेगा, बढ़कर इतना बढ़ेगा कि इसमें लोकके सिवाय अलोकमें भी समा जायगा अर्थात् इसमें लोक अलोक सब समा जावेंगे। और फिर भी भीतर इतनी हिम्मत रखेगा यह ज्ञानगुण कि ऐसे असंख्याते लोक हों, कितने ही लोक हों उन सबको अपनेमें समा लेगा। इस तरह यह ज्ञानमें चूंकि बढ़नेका स्वभाव पड़ा हुआ है वह कहीं रुकता नहीं है, इस कारण इसे ब्रह्म कहते हैं। इसीको परमब्रह्म कहते हैं, क्योंकि इसका ऐसा शीलस्वभाव यह सब बात इस जीवमें एक विलक्षण है, उत्कृष्ट है, इस कारणसे इसीका नाम परमब्रह्म है। उस अंतस्तत्त्वके कुछ नाम बताये जा रहे हैं जो वास्तवमें मेरे लिए शरणभूत हैं, मेरे देव हैं, शास्त्र हैं, गुरु हैं, प्रमाण हैं। मुझे क्या करना चाहिए? ऐसा कोई अगर प्रश्न करे तो उसके लिए यही प्रमाण है, यही करना चाहिए। क्या करना चाहिये? बस यों रहना चाहिए, जैसा कि यह स्वरूप है। तो उस स्वरूपकी यहाँ चर्चा करते हैं उसके लिए कुछ उसके अनेक नाम बताये जा रहे हैं जिससे उस प्रभुकी विशेषता भी जाहिर हो और आगे प्रश्नोत्तर रूप यह वर्णन चलेगा तो प्रश्न करनेमें भी मदद मिलेगी।

समयसार—इस अंतस्तत्वका नाम है समयसार। समय कहते हैं सर्व पदार्थोंको। जो अपनी गुण पर्यायोंको प्राप्त हो उसे कहते हैं समय। सम् और अय ये दो शब्द इसमें पड़े हैं। सम् का अर्थ है सम्यक्प्रकारसे, अय मायने चलना। अर्थात् जो भली प्रकारसे चले उसे कहते हैं समय। ये समय याने पदार्थ अनन्त हैं। उन सबमें सारभूत पदार्थ यह चेतन समयसार है, उन सब चेतनोंमें भी सारभूत यह रत्नत्रयस्वरूप है और उसमें भी सार याने जिसके आधारपर रत्नत्रय है वह है, यही अन्तस्तत्व जो ९ तत्त्वोंमें गत होकर भी अपनी एकताको नहीं छोड़ता। इसका नाम कोई समयसारसार रखले तो अच्छा है। रख लें अथवा समयसारसारसार रख लें कितने ही सार लगा दें और इसकी महिमा पा लें? यह कुछ नहीं कह सकते। हम कितना ही सार लगा लें, सब सार लुप्त हो जायेंगे, केवल एक सार रहेगा, अतिनिकट वाला सार रहेगा। व्याकरणकी पद्धति भी यही है। राम शब्दका बहुवचनमें रुप बनता है तो अजैन व्याकरणके अनुसार यह बताया गया कि राम, राम, राम

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऐसा अनेक बार लिख लिखकर फिर उसमें बहुवचनका प्रत्यय लगायें और फिर अन्य सबका लोप करके एक राम शब्द रख लें, फिर उसकी संधि करके "रामाः" ऐसा अपना पद बना लें। जैन व्याकरणके अनुसार हम कल्पनामें अनेक नाम रखलें, रख लेनेकी जरूरत नहीं, बहुवचनकी विवक्षा होनेसे कल्पनागत होते यों उसमें बहुत्व मानकर ही हैं। बहुवचन का प्रत्यय कर लें, तो कितने सार लिखे जायें ? लिख लिया, अन्तमें रहेगा एक सार, ऐसा यह समयसार है।

समयसार सहज रत्नत्रय भावका संकेत है। सम्, अय और सार ये तीन शब्द हैं। सम् मायने सम्यक्, अय मायने ज्ञान व सार (सरण) मायने आचरण, अर्थात् सम्यक्त्व, ज्ञान और आचरण ऐसा रत्नत्रयात्मक यह समयसार है। ऐसा रत्नत्रयस्वरूप, ऐसा यह शील रखनेवाला, परम आनन्दमय जिसका सहज शान्तस्वभाव बसा हुआ है उसकी ओर दृष्टि ले जाना चाहिये। प्रयोग करके धीरेसे मौन रहकर जैसे कोई संक्षिप्त छोटी चीज हो तो उसमें धैर्यतासे ही काम निभा पाते हैं इसी प्रकार धीर होकर, गम्भीर होकर, निश्चल होकर अपने आपमें हिलाव डुलाव न रखकर उस तत्त्वकी दृष्टि कर लीजिए। एक बार भी वह परमपरमात्मा, उसकी परख, उसका लक्ष्य दृष्टिमें आ जाय, नजरमें आ जाय तो फिर संसारसंकट उसका नियमसे टलेगा। एक बार तो दृष्टिमें आ जाय, फिर इस ज्ञानीकी यह धुन रहती है कि हे परमशरण, हे अविकार स्वभाव ! अब तुम मुझसे ओझल मत हो। इसके एवजमें चाहे कितने ही संकट आयें, उपद्रव आयें, वे सब सह लेंगे, मगर हमसे अब ओझल मत हो। इसीका चित्रण है सुकौशल गजकुमार आदिकका उपसर्ग। इसे कहते हैं परमप्रीति, परम अनुराग। जिससे परम अनुराग होता है उसको ग्रहण करनेके प्रसंगमें कितने ही कोई उपद्रव करे, मारे पीटे तो उसकी भी परवाह न करके उसे ही ग्रहण किया करते हैं। तब जिसे अविकार ज्ञानस्वभावका दर्शन हुआ है और जिसको इतने बड़े भारी संसारके बोझको दूर कर देनेका मार्ग मिल गया है, आनन्द प्राप्त हुआ है, उसकी धुन यही है कि अब तुम ओझल मत होओ। उस तत्त्वको कहते हैं समयसार।

कारणसमयसार——इस अन्तस्तत्वका नाम है कारणसमयसार। समयसारको दो रूपोंमें निरखियेगा——(१) कार्यसमयसार और (२) कारणसमयसार। कार्यसमयसार तो हैं प्रभु अरहंत सिद्ध परमात्मा। तो हुआ क्या वहां ? जैसे कोई मिट्टीका घड़ा बनाता है तो पानी भी मँगाता, कुछ बारीक भूसा भी उसमें सानने के लिए मंगाता, कुछ रंग भी उसमें मिलाता और दंड चक्र, थपथपा आदिक साधन भी मंगाता, और उसके अनुकूल कुछ उत्साह भी जगाता, तब कहीं वह घड़ा बना पाता। तो इस तरहसे जो प्रभु हुए, परमात्मा हुए उनके परमात्मा बननेमें बताइये कहांसे कौनसी चीज ला लाकर संचित की गई ? उस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

में जाते हैं, जिस समागमको पाते हैं उस समागमको अपूर्व मान लेते हैं और उस ही आदतके अनुसार यह संस्कार इस भवमें भी पड़ा है कि जो समक्ष हो उसीको अपूर्व मान लिया। अपूर्व है समागम, लेकिन इतनासा परिचय यह क्या दम रख रहा है? अनादिकाल हो गया भ्रमण करते-करते। कितने ही संग छोड़ चुके हैं, इससे भी इष्ट-इष्ट पदार्थ अनेक प्राप्त हुए थे, उन्हें भी छोड़ दिया, फिर वर्तमानका क्या समागम है? कितनेके लिए संकोच करना, लिहाज करना, परिचयकी दृष्टि बनाना। किन्तु उनके ही आधारपर अपना सब कुछ निर्णय करनेका वही संस्कार यह मोही जीव लादे हुए है, इसका भी उच्छेद तत्वज्ञानी जीव कर लेता है। तीन लोक तीन काल कितना बड़ा है, यह जिनके ज्ञानमें प्राय: नाचता रहता है ऐसे जीवोंके संस्थानविचय धर्मध्यान बताया गया है। करणानुयोगकी दृष्टि से चौथे गुणस्थानमें चारों ध्यान बताये गए हैं, लेकिन पूर्णताकी दृष्टिसे संस्थानविचय धर्म-ध्यान होता है छठे गुणस्थानसे। छठे गुणस्थानमें विशिष्ट संस्थान विचय धर्मध्यान होता है वह वहाँ परम वैराग्यका कारण है। जिसके यह निर्णय है कि तीन लोक कितना बड़ा, तीन काल कितना बड़ा और यह दृष्टिमें रहे तो यह छुटपुट मोह उसे सता नहीं सकता। तो यहाँ क्या समागम है, क्या परिचय है? इसमें क्या उलझना है? एक अपने अन्त:स्व-रूपका आलम्बन करके सदाके लिए अपनेको नि:संकट बनाना है तो जिस अंतस्तत्वका आलम्बन लेकर सदाके लिए नि:संकट हो जाता है वह अन्तस्तत्व यही है कारणपरमात्मा।

सहजसिद्ध परमात्मा—इस अन्तस्तत्त्वका नाम है सहजसिद्धपरमात्मा। लोग सिद्ध-पूजाके भाषाष्टकमें पढ़ते हैं—"सहजसिद्धमहं परिपूजये" अर्थात् मैं सहजसिद्धको भजता हूं। भावपूजा है तो सहज सिद्ध पूज्य हैं। अब भावमन्दिर हो जाय तो यह भी मनुष्य तुच्छ कुछ नहीं रहा, यह भी भावरूप हो रहा, ऐसा जहाँ सब कुछ भावरूप ही हो रहा है, ऐसे उस सहजसिद्धमें जो उपयोगका होना है वह है नोआगम भावसिद्धपूजा। अद्वैतसिद्धपूजा—इसमें बड़ी विशेषताओंसे ऐसी तारीफ की गई है कि जो सिद्ध भगवानमें भी घटित हो और अपने आपके उस अंतस्तत्त्वस्वरूपमें भी घटित हो और पूजनकी विधि भी यही बतायी गई है भावाष्टकमें कि उस विधिके लिए कोई परतंत्रता नहीं होती। कुवाँ जाना पड़े, पानी छानना हो, द्रव्य धोना हो या दूसरे लोग कोई इतराज कर सकें— तुम द्रव्य नहीं लाये, मुफ्त क्यों पूजा कर रहे हो? अथवा अन्य प्रकारका भी विवाद ला सकें, इन सबकी जहाँ कुछ भी गुंजाइश नहीं है ऐसी विधि भी बतायी गई है। इस भावाष्टकमें पूजा किसे है? सहजसिद्ध को। सहजसिद्ध, अनायाससिद्ध, अर्थात् कोई बाहरी खटपट साधन नहीं, कोई मूर्तिक पदार्थ जुटाकर तैयार किया गया हो सिद्ध ऐसी बात नहीं है। किन्तु जो आवरण थे विषय कषाय भाव उन आवरणोंको हटाया कि स्वयं ही सहज वहाँ शुद्ध भाव प्रकट हो गया। जिनको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह मर्म विदित नहीं है वे इस भावपूजापर क्या अधिकार पायेंगे ? वे तो बाहरी चीजें देखेंगे। जो मर्मसे अपरिचित हैं वे अर्थ बाहरी बातोंमें ही लगा देते हैं, और तब विडम्बनायें हो जाती हैं ऐसा कि जो उद्देश्य है उससे कितना ही दूर पहुंच जाते हैं। भगवद्भक्तिका प्रयोजन है कि भगवन्तोंने जिस विधिसे अपने आपमें पौरुष किया है वह पौरुष उसकी दृष्टि में आये और उस ही पौरुषके प्रति उत्साहवान रहें, यह है पूजनका प्रयोजन, लेकिन बाहरी चीजें ज्ञानियोंकी देखकर उसमें श्रद्धा कर लेते हैं कि ऐसी पूजासे धर्म होता है, पर वासना अपनी वैसी ही रखी। बाहरी क्रियायें तो ले ली ज्ञानियोंकी और वासना रखी, बस इसके जोड़का ही नाम याने अपनी वासना व ज्ञानियोंकी क्रिया, इनका जो समन्वय है बस उसका नाम आजकी पूजा है और तब विडम्बना क्या बनी ? मेरे संतान हो, मेरा धन बढ़े, मुकदमेमें जीत हो, इसके लिए अतिशय क्षेत्रमें लोग अपनी पूजा क्या करने लगे ? मनौती मनाने लगे। विडम्बना यहां तक हो जाती है।

अमर्मज्ञतामें विडम्बना—एक कथानक है कि कोई एक वैद्य कहीं जा रहा था। उसे रास्तेमें एक ऊँटवाला मिला। उसके एक ऊँटके गलेमें कूम्हड़ा अटक गया था जिससे वह बेहोशी हालतमें था, मरणासन्न दशाको प्राप्त हो गया था। वह ऊँट वाला बहुत दुःखी हो रहा था। वैद्यने उससे पूछा—भाई क्यों दुःखी हो रहे हो ? तो ऊँट वालेने बताया कि हमारे ऊँटके गलेमें कूम्हड़ा अटक गया है जिससे यह मरणासन्न दशाको प्राप्त हो गया है। अगर यह मर गया तब तो हमारे ५००) रुपयों पर पानी फिर जायगा। इसीसे हम दुःखी हो रहे हैं। तो वैद्य बोला—अजी एक काम करो—दो पत्थरके टुकड़े लाओ, अभी हम तुम्हारा ऊँट ठीक किए देते हैं। सो झट दो पत्थरके टुकड़े वह ऊँट वाला उठा लाया। वैद्यने ऊँटके गलेके नीचे एक पत्थरका टुकड़ा रखा और दूसरे पत्थरसे धीरे-धीरे विधिपूर्वक पत्थर मार मारकर कूम्हड़ेको फोड़ दिया। कूम्हड़ा फूट जानेपर ऊँट उसे निगल गया और अच्छा हो गया। ऊँट वालेने वैद्यको २०) रुपये इनाममें दिए। अब वैद्य तो चला गया, ऊँट वालेने सोचा कि हम व्यर्थ ही ऊँटपर घास लाकर बेचनेका काम करते, उसमें तो गुजारा नहीं चलता, अब हम वैद्यका काम करेंगे, क्योंकि इसमें अच्छी आमदनी होगी। सो ऊँटका काम छोड़कर वैद्य बन गया। एक दिन क्या घटना घटी कि वह किसी नगरमें यह आवाज दे रहा था कि हम सब बीमारियोंकी अचूक दवा करते हैं। जिसे चाहिये वह दवा करवा सकता है। तो एक सेठके घर उसकी माँ बहुत दिनोंसे बीमार थी, वह ठीक ही नहीं हो रही थी, तो बुलाया उस वैद्यको और उसकी दवा करनेको कहा। तो उस बनावटी वैद्यने कहा—ठीक है, यह बुढ़िया माँ अभी ठीक हो जायगी। दो पत्थरके टुकड़े लावो…। आ गए टुकड़े। एक पत्थर बुढ़ियाके गलेके नीचे रखा और एक पत्थर ऊपर गलेमें मारा तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बुढ़िया टें बोल गयी अर्थात् मरणको प्राप्त हो गई। अब वह सोचता है कि देखो हमने काम तो सही किया, जैसा कि उस दैद्यने किया था वैसा ही काम मैंने भी किया, पर ऐसी क्या चूक हो गयी जिससे यह बुढ़िया मर गई ? वह वैद्य तो यों पछ्ता रहा था। सेठने उसे धक्के मुक्के मारकर भगा दिया। अरे तो देखिये—उसकी यह विडम्बना क्यों बनी ? इसलिए कि उसने उसके मर्मको न जाना था। यही हाल तो यहाँ भी हो रहा है। लोग ज्ञानियोंकी क्रियायोंको देखकर, पूजन आदिककी क्रियायोंको देखकर पूजन आदिककी क्रियायें करते हैं। पर उसके मर्मको न जानकर उन क्रियावोंको करके वे कुछ लाभ नहीं उठा पाते, और इस अपूर्व अवसरको पाकर भी अपनी बरबादी कर बैठते हैं।

प्रभुपूजाका लाभ--देखिये--प्रभुपूजा करनेका उद्देश्य यह था कि जैसे प्रभुने सिद्ध अवस्थाको प्राप्त किया ऐसे ही हमें भी प्राप्त करना चाहिए। उसको प्राप्त करनेके लिए कहीं बाहरमें कुछ आडम्बर नहीं जोड़ना है, बाहरमें कोई क्रियाकलाप नहीं करना है। वह तो सहजसिद्ध है। प्रभुने क्या किया ? अरे जो थे सो ही रह गए। वह अवस्था तो सहजसिद्ध है। सहका अर्थ है साथ और ज का अर्थ है प्रकट होना, उत्पन्न होना, अर्थात् जबसे मैं हूं तबसे ही उत्पन्न होनेवाला। तो यह मेरा चैतन्यात्मक भाव यह भी अनादिसे है और यह सहजसिद्ध है, किसी दूसरे पदार्थकी कृपासे नहीं बना है, किन्तु अपने आपके सत्त्वके कारण ही स्वयंमें जो स्वरूप है ऐसा वह सहज ज्ञानस्वभाव, सहज आनन्द चतुष्टय है सहजसिद्ध। उस सहजसिद्धकी पूजा करते हुए ऐसे इस सहजसिद्ध परमात्माका जो आलम्बन लेते हैं उनको तत्काल भी संकट नहीं और सदाके लिए संकट मिट जायें, ऐसा उनका अपूर्व पौरुष बन जाता है। यह इस समयका जो भव है, समय है, जो हम आपको मिला हुआ है यह अपूर्व है, उत्तम है। भला कैसी जाति शुद्ध, कुल शुद्ध, इन्द्रियां परिपूर्ण, इतना ज्ञान मिला है, इतना सत्संग मिला है, कुछ ग्रन्थोंका अध्ययन है, कुछ ज्ञान है, ये सब बातें हम आपको प्राप्त हुई हैं। अब इस समयमें थोड़ी और हिम्मत बनाना है। क्या ? कि बाह्य पदार्थोंकी लोलुपता तजकर भाव यह बनाना है कि मेरेको तो जीवनमें एक मात्र काम यही पड़ा है कि मैं अपने आपमें बसे हुए इस सहज सिद्ध परमात्माकी दृष्टि बनाये रहूं। उस ही को हम अहं रूपसे अनुभवते रहें, इस कार्यको करते हुएमें कितना ही काल व्यतीत हो जाय, बस यही एक मात्र करनेका है, यह निर्णय होना चाहिए, और दूसरी बात यह है कि जब तक हम इस शरीरमें हैं तब तक भोजन भी चाहिए, और और भी तत्सम्बंधी साधन चाहिएँ और उनके लिए फिर व्यवहार भी हमें चाहिए। बोलचाल बिना, व्यवहार बिना, परस्परके सम्बन्ध बिना हमारी ये देह सम्बन्धी क्रियायें– (भूख, प्यास, सर्दी आदिककी बाधायें मेटनेकी युक्तियां) न निभ सकेंगी। तो इस जीवनमें जीवित रहकर हम अपने वास्तविक प्रयोजनको

Version 1

साध लें तब व्यवहारमें हमारे मंदकषाय होना चाहिए । हममें यह लिहाज न रहना चाहिए कि अमुक इस प्रकार कर रहा है और लोग यों जान गए हैं तो मुझे इसकी कोई प्रतिक्रिया करनी चाहिए । अरे कितना ही उपद्रुत हो गए हों, पर दूसरोंका बुरा विचारनेका हमारा भाव न होना चाहिए, इतनी मंदकषाय हो । तो सहजसिद्ध परमात्मत्वकी दृष्टि और व्यवहारमें मन्दकषाय--इन दो के सिवाय और कुछ करनेको हम आपको पड़ा क्या है ? तो इस सहजसिद्ध परमात्माके दर्शन, आलम्बन, आश्रयसे संसारके सकल संकट समाप्त हो जायेंगे। इस ओर दृष्टि हो ।

आराध्य समय—इस अंतस्तत्वका नाम है समय, जिसे स्वसमय और परसमय ऐसी दो अवस्थाओंके नामसे कहा गया है । उन दो अवस्थाओंमें रहनेवाला जो एक तत्त्व है उसका नाम है समय । स्वसमय कहते हैं दर्शन ज्ञानचारित्र परिणाममें स्थित आत्माको । और परसमय कहते हैं पुद्गलकर्मके उदयसे होनेवाले विभावोंमें ही स्थित आत्माको । उसमें यह जो अहंरूपसे अनुभव करता है वह मूढ़ परसमय है । तो जीवकी स्थितियाँ इन दो में ही तो हैं सब । स्वसमय और परसमय । दो की बात ले लीजिए--एक विधिरूप और एक उसका निषेधरूप । इन दो में उसकी सारी दुनिया आ जाती है । पदार्थ दो हैं—जीव और अजीव । इसमें सब आ गए । जीव दो हैं--मनुष्य और अमनुष्य । इसमें सब आ गए । कोई भी पदार्थ विधिरूप कहे और उसमें एक निषेध लगाये तो उसमें सब आ जाते हैं—स्वसमय और परसमय (अस्वसमय) इसमें सब आ गए । तो इन सब स्थितियोंमें रहने वाला जो एक द्रव्य है वह कहलाता है समय । वह एक क्या ? जैसे एक अंगुलीकी कई दशायें बन जायें, सीधी, गोल, टेढ़ी आदि तो उन सबमें कोई एक चीज तो है ना ? तो जो इन स्थितियोंमें चलकर भी किसी एक स्थितिरूप नहीं बन सकी हैं वह अंगुली ज्ञानद्वारा समझमें आती है । ऐसे ही जो सर्व परिस्थितियोंमें रहनेवाला आत्मा है वह एक आत्मा सर्वविशुद्ध वह क्या है ? ज्ञायकस्वभावरूप । उसको कहते हैं समय । समयका सदुपयोग करो अर्थात् जो काल बीत रहा है उस बीत रहे हुए कालका सदुपयोग कर लीजिए । समय का सदुपयोग करो । जो सिद्धान्त मिला है, समय नाम सिद्धान्तका भी है, जो मत मिला है, दर्शन मिला है उस समयका सदुपयोग कीजिए । उसका पूरा लाभ उठा लीजिए, संसार-बन्धनसे, कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका उपाय बना लीजिए । इस समयका सदुपयोग करो जो समय जो मेरे आत्मामें अनादि अनन्त शाश्वत अहेतुक विराजमान है, अन्तःप्रकाशमान है उसकी दृष्टि कीजिए, इसका आश्रय लीजिए । यह हुआ समयका सदुपयोग । समयके विषय में, अन्तस्तत्वके विषयमें शुद्धोपयोगको बनाया तो इस समयके आलम्बनसे आत्मा निःसंकट हो जाता है ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आराध्य आत्मा—इस अन्तस्तत्वको आत्मा भी कहा है। यह अंतस्तत्व आत्मा है, जो निरन्तर चले, निरन्तर जाने उसे कहते हैं आत्मा। निरन्तर चले, अपनी पर्यायोंको प्राप्त करता रहे, इन अर्थों वाला आत्मा तो सभी पदार्थ हैं। कितने आत्मा हैं जगतमें ? उनकी ६ जातियाँ हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये सब आत्मा हैं, क्योंकि ये निरन्तर चलते रहते हैं अपनी यात्रामें। अतति सततं गच्छति, अनवरतरूपसे निरन्तर जो अपनी गुण पर्यायोंमें चलता रहे उसको कहते हैं आत्मा। उस आत्माकी बात यहाँ नहीं कह रहे हैं किन्तु गमनार्थक धातुयें जितनी हैं उनका ज्ञान अर्थ भी होता है। तब ज्ञानार्थकमें इस धातुको ले लीजिए। जो निरन्तर जानता रहे उसे आत्मा कहते हैं। तो इसमें निरन्तर जाननेका स्वभाव पड़ा हुआ है। और जितने ज्ञान होते हैं उन सब ज्ञानोंमें रहकर भी किसी एक ज्ञानरूप ही स्वभाववाला नहीं बनता है, किन्तु जो सहज ज्ञानस्वभाव है ऐसा यह आत्मा अन्तस्तत्व कहलाता है। लोग बड़े प्यारसे आत्माको बोलते हैं, जैसे यह बच्चा तो मेरा आत्मा है। परिवारमें कोई बड़ा ही प्यारा बालक गुजर गया तो उसको लोग कहते कि वह तो मेरा आत्मा था। देखिये—कितना प्रियताका रूप दिखाते हैं—मेरा आत्मा। अरे इस समूचे आत्मामें भी देखो मेरा आत्मा क्या ? यहाँ पर भी आत्माके दो रूप रख लीजिए (१) बाह्यरूप और (२) अन्तस्तत्व। इस मेरे आत्मामें, अनेक प्रकारके परिणमन कर रहे इस आत्मामें मेरा आत्मा तो यह सहजज्ञानस्वभाव है और सब नहीं है। जिसको आध्यात्मिक महर्षियोंने स्पष्टरूपसे बताया है कि संयम स्थान आदि तक भी ये सब मैं नहीं हूं। है वह सब आत्माका विस्तार पर इस समूचे आत्मामें तो मेरा आत्मा यह ज्ञानभावमात्र है उस आत्माकी बात कह रहे हैं। तो सर्व पदार्थोंसे हट कर और आत्मामें रहनेवाले इन सब साधनोंसे हटकर जो एक शुद्ध ज्ञानमात्र है उसे आत्मारूपसे पुकारो। मेरा आत्मा तो यह है, मेरा प्राण तो यह है, अन्य कुछ यह नहीं है, यह मेरी बरबादी है। तो इस आत्माकी दृष्टिके प्रसादसे यह जीव सदाके लिए संकटमुक्त हो जाता है। तो इन सबके परिचयमें हमारा निर्णय यह होना चाहिए कि बस मेरेको काम अन्तः करनेका एक ही पड़ा है। इस सहज अपने सत्वके कारण जो कुछ होता हो बिना बनावटके, बिना सजावटके जो कुछ इसमें पड़ा हुआ हो बस वही दृष्टिमें रहे और उसके रूप ही परिणमन बने। देखिये – इसके दर्शनमें वे सब गाँठें, शल्य, गुत्थियाँ सब खुल जाती हैं। और इसका मार्ग इतना स्पष्ट हो जाता है कि अन्तः उसको फिर अप्रसन्नता नहीं आ पाती। लोग तो अप्रसन्नता बाह्य परिणमनोंमें ही हिसाब लगाकर करते हैं, लेकिन यह तत्वज्ञानी जीव तो अपनेमें ही हिसाब बनाता है, इस कारण यह कभी अप्रसन्न नहीं होता।

पारिणामिक भाव और परमपारिणामिक भाव—जो परमार्थतया मंगल है, लोको-

Version 1

त्तम है, शरणभूत है उस अंतस्तत्त्वकी पहिचान बिना जीव निरन्तर दुःखी रहता है, ऐसे अज्ञानी जीवको सन्तोषका कोई आधारभूत ही नहीं होता। समझते तो हैं ये भौतिक पदार्थोंके प्रति कि मेरे सन्तोषका यह आधार है लेकिन वह सन्तोषका आधार हो ही नहीं सकता। जो मेरे लिए ध्रुव रूप हो वह मेरा आधार, शरण, लोकोत्तम और मंगल हो सकता है, ऐसे उस अंतस्तत्वके सम्बंधमें इस परिच्छेदमें वर्णन किया जायगा और उसकी विशेषतायें कही जायेंगी। उससे पहिले उस अन्तस्तत्वके कुछ नाम बताये जा रहे हैं। इसका एक नाम है पारिणामिक भाव। परिणामका अर्थ है स्वभाव। स्वभाव ही जिसका प्रयोजन है अर्थात् स्वभावको ही स्वभावके लिए दृष्टिमें रखकर जो भाव विदित होता है उसे कहते हैं पारिणामिक भाव। यह पारिणामिक भाव यद्यपि समस्त पदार्थोंमें रहता है, कोई चेतनसे ही सम्बंध रखनेवाली मात्र बात नहीं है, फिर भी चूंकि आत्माका प्रकरण है अतएव पारिणामिक भावसे अर्थ उस ज्ञायकस्वभाव, चैतन्यस्वभावका ही ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि आत्मामें अनेक पारिणामिक हैं—अस्तित्व, वस्तुत्व आदिक, केवल जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन ही नहीं हैं, अनन्त हैं, किन्तु वे सब एक इस जीवत्वभावमें ही अन्तर्भावी हो जाते हैं और इन तीनोंमें भी विशुद्धतया तो एक जीवत्व भाव है, उस पारिणामिक भावकी बात बतायेंगे कि वह बंधा कि नहीं बंधा है? आदिक अनेक प्रश्नोंमें उसकी चर्चा की जायगी। इसको ही कहते हैं पारिणामिक भाव। जब इसकी उत्कृष्टतापर और विशेषदृष्टि गयी अथवा जगतके अन्य समस्त पदार्थोंसे विशेषतया जब यह निहारा गया तो यही भाव कहलाता है परमपारिणामिक भाव। जो स्वभावभाव है वह शाश्वत है, अनाद्यनंत रहता है अन्तःप्रकाशमान है। शुद्ध अवस्थामें इसकी व्यक्ति भी स्वभावके अनुरूप ही हुई है और जहाँ व्यक्ति स्वभावके अनुरूप नहीं है वहाँ भी यह स्वभाव पड़ा है, ऐसे सहज शाश्वत निज भावको परमपारिणामिक भाव कहते हैं।

अखण्डात्मा—इस अन्तस्तत्वका नाम अखण्ड आत्मा भी है। आत्मा है यह स्वयं अपना। आत्माके अनेक अर्थ होते हैं—आत्माका स्वरूप अर्थ है। आत्माका इस तरह भी अर्थ है जैसे स्वयं सहज जिसका नाम लेकर चर्चा करे और आत्म शब्द जोड़े तो उससे उसका ही अर्थ होगा, और आत्माका अर्थ चेतन पदार्थ भी है, और इस चेतन पदार्थमें जो आत्मा है, सारभूत है, जैसे लकड़ीमें जो भीतर ठोस कुछ हिस्सा रहता है उसे कहते हैं लकड़ीका सार, लकड़ीका आत्मा। बाकी तो सब फोकस है। तो लकड़ीका आत्मा जैसे उसके अन्तः प्रविष्ट है यों ही इस आत्मामें भी देखो—यह आत्मा अखण्ड है, इसका खण्ड नहीं है। खण्ड तो व्यवहारदृष्टिसे प्रयोजनके लिए किया गया है समझनेके लिए। जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और मुक्त। संसारी जीव—त्रस, स्थावर जैसे दो प्रकारके हैं। उनमें

भी भेद प्रभेद करना यह सब प्रयोजनके लिए है। लोग कैसे समझें कि इस इस प्रकारके जीव होते हैं और ऐसे इन पदार्थोंमें रहा करते हैं। इनमें भी वही चैतन्यस्वरूप है जो मुझमें है, इनकी हिंसा न करें, बल्कि इनके उस स्वभावकी भावना बनायें आदिक जो कार्यकारी कर्तव्य हैं उनको समझनेके लिए भेदपूर्वक समझना होता है। तो जीवके भेद द्वैत तो व्यवहारसे किए गए हैं। वस्तुत: यह तो अपने आपमें अखण्ड है। प्रत्येक अद्वैत, विशिष्ट अद्वैत, प्रत्येक आत्मा अपने आपमें अखण्ड है। कहीं सब मिलकर एक हो जायें यह बात नहीं होती। वह तो एक ब्रह्माद्वैतकी बात हो जायगी। अरे प्रत्येक जीव अपने आपमें अखण्ड है, जो है सो है। उसके खण्ड होते हैं प्रयोजनवश। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे पदार्थकी परख हुआ करती है। लोकमें भी परख करनेका यही उपाय है और परमार्थ तत्त्वमें भी परखका यही उपाय है, और उस परखके लिए द्रव्यसे जब भेद किया, परख किया तो गुणरूप है। पर्यायरूप है, यह भेद निकला। क्षेत्रसे जब परख की तो इसमें असंख्यात प्रदेश हैं, यह विदित हुआ। कालसे परख की तो यह कषायवान है, अप्रमत्त है, प्रमत्त है, यों गुणस्थान भेद समझ में आये और भावसे परख की तो उसमें अनन्त गुण नजर आ रहे हैं। इसमें ज्ञान है, दर्शन है, श्रद्धा है, चारित्र है तो परखके लिए यह भेद बना करता है। वस्तुत: आत्मामें खण्ड नहीं है और आत्मा ही क्या, जो भी सत् होता है प्रत्येक पदार्थ अखण्ड ही होता है। ऐसा यह मैं अखण्ड आत्मा नहीं समझा गया था, इस कारण जगतमें अब तक रुलता आया। उस अखण्ड आत्मरूपको मैं जानूं, वैसे जानते सभी लोग हैं अपनेको, कोई किसी रूपमें परखता है कोई किसी रूपमें, लेकिन इस मोही जीवने अपने आपको उस अखण्ड रूपमें नहीं निरखा और नाना रूपोंमें अपनेको माना तब उनके आधारसे अनेक विकलतायें इसे सहनी पड़ीं।

आराध्य ज्ञायकभाव—इस अन्तस्तत्त्वका नाम ज्ञायकभाव भी है। ज्ञायकका अर्थ तो जाननहार है। शब्दश: तो जाननहार अर्थ होनेसे एक ज्ञानको ही इसने ग्रहण किया, लेकिन ऐसे भेद बुद्धिसे परखे हुए धात्वर्थको न लेना अन्यथा तब कोई किसी पदार्थका सही नाम ले न सकेगा और इसी कारण पदार्थ अवक्तव्य बताया गया है। जो कोई कुछ कहेगा पदार्थके सम्बन्धमें वह अपूर्ण कह सकेगा। पूर्ण पदार्थको बतानेवाला कोई नाम ही नहीं है। तो ज्ञायकभावका अर्थ लेना है, सहज ज्ञानस्वभावमय वह परिपूर्ण आत्मा। वह ज्ञानमात्र है ज्ञायकभाव है। ज्ञायकभाव शब्द इस स्वभावपर ले जाता है कि वह सर्वत्र ज्ञानघन है। कहीं भी प्रदेशमें अन्तर न आयगा कि चलो सारा ज्ञानघन है तो बीचका प्रदेश या अगल बगलके कहींका भी एक प्रदेश वह ज्ञायकतासे शून्य हो, सो नहीं है, वह तो पूर्ण अखण्ड है, सर्वत्र ज्ञानरसमें मग्न है, ऐसे ज्ञायकभाव शब्दसे उसे पूर्ण ज्ञानमात्र जानें। जिसमें से प्रतिक्षण ज्ञान निकल रहे हैं उन अनन्तोंके निकलनेपर भी वह ज्ञायकभाव परिपूर्ण ज्यों

Version 1

का त्यों बना हुआ है। यद्यपि जिस समय जो ज्ञान प्रकट हुआ है वह वहाँ उस पर्यायमें पूरा ही है, अधूरा कभी परिणमन होता नहीं है। कभी किसीके कैसा ही ज्ञानपरिणमन हो तो वह भी ज्ञानघनका पूरा परिणमन है। मिथ्यादृष्टि जीवके अज्ञानपरिणमन चल रहा है लेकिन वह ज्ञानस्वभावका एक देश परिणमन नहीं, किन्तु उस ज्ञानगुणका पूरा ही परिणमन है। उस रूप है, वे परिस्थितयाँ ऐसी हैं। तो इस ज्ञायकस्वभावसे प्रतिक्षण परिपूर्ण परिणमन निकलता हैं और पूराका पूरा बहनेपर भी पूराका पूरा ही रह जाता है। वहाँ कहीं अपूर्णपना नहीं आता। ऐसा ज्ञानमग्न ज्ञायकस्वभावरूप यह अन्तस्तत्व है।

ध्रुव आत्मा—इस अन्तस्तत्त्वका नाम ध्रुवात्मा भी है, यह ध्रुव, सदाकाल रहने वाला है। कोई उसकी सुध ले रहा हो तब भी है, न ले रहा हो तब भी है, निगोद जीवों की क्या अवस्था है? लेकिन वहाँ यह ध्रुव आत्मा सतत प्रकाशमान है, और जहाँ स्वभाव पूर्ण व्यक्त हो गया है ऐसी शुद्ध अवस्थामें भी यह ध्रुव आत्मा सतत् प्रकाशमान है। इसकी यह तो है रीति, परन्तु व्यवहारमें कितना अन्तर पड़ गया? सदा है, समीप है, खुद है, निरन्तर है, लेकिन सुध न लेनेसे यह पूरा गरीब बना हुआ है। जगतमें अमीर केवल सम्यग्दृष्टि ही कहा जा सकता है, जिसके अमीरीका अनुभव है। अमीरी उसे कहते हैं कि जिसमें ऐसी दृष्टि हो, साधन हो कि वह कह उठे कि हमें अब कुछ न चाहिए। मेरे पास सब कुछ है। अमीर नाम लोकमें भी उसे कहते हैं कि जिसके प्रति लोगोंकी यह धारणा बन जाय कि इसके पास तो सब कुछ है। चाहे वह अमीर ऐसा कुछ नहीं मान रहा है कि मेरे पास सब कुछ है लेकिन अमीरका लक्षण तो यही बनेगा कि जिसको यह अनुभव हो कि सब कुछ है, अब कुछ नहीं चाहिये। दूसरे लोग समझ रहे हैं कि इसके पास तो सब कुछ है, क्या कमी है, तो वह लौकिक अमीरी है। परमार्थकी अमीरी तो विलक्षण ही है। ऐसी अमीरी तो तत्वज्ञानी जीवके ही हो सकती है उसके पास तो सब कुछ है। सब कुछ का क्या लक्षण है? सब कुछ कितना कहलाता है कि जिससे माना जाय कि इसके पास सब कुछ है? इसका नाम अमीर है। बतलाओ सब कुछ कितने को कहते हैं? कितने धन वालोंको अमीर कहते हैं? इसकी कुछ सीमा तो बताओ। क्या करोड़पति अमीर हैं? अरे करोड़पति, अरबपति खरबपति आदि ये कोई अमीर नहीं हैं। अमीर तो वही है जो अपने को ऐसा माने कि मेरे पास तो सब कुछ है। अगर कोई बहुत कुछ पासमें होते हुए भी माने कि मेरे पास कुछ नहीं है तो वह काहेका अमीर? तो मेरे पास सब कुछ है, ऐसा कहनेमें उस सब कुछका क्या अर्थ है? सो सुनो--जिसे अब कुछ न चाहिए बस यह स्वरूप है सब कुछका। जो अपने पास बहुत कुछ होने पर भी माने कि मेरे पास कुछ नहीं है उसे सब कुछ नहीं कहा जा सकता। तो ज्ञानी पुरुषने अपने आपमें उस ध्रुव आत्माका दर्शन

http://www.jainkosh.org

किया है, जो ज्ञानानन्दस्वभावमय है तो उसे ऐसी दृष्टि हुई है कि मेरे पास सब कुछ है तो इस ध्रुव आत्माकी निगाहमें यह जीव भरापूरा है, अमीर है। जैसे किसी पुरुषके घरमें लाख रुपये गड़े हैं, पर उसे गड़े धन का भी पता नहीं है, तो वह तो गरीबीका ही अनुभव करता है, तो देखिये—एक दृष्टिसे वह है तो भरापूरा, पर पता न होनेसे वह अधूरा है, गरीब है, कष्टमें है, भटकता है, डोलता है। ऐसे ही अपने पास अपनेमें यह ध्रुव आत्मद्रव्य ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण है, यह आनन्दमय आत्मा है, पर इसका पता ही नहीं है तो वह तो गरीब है, डोलता है, तृष्णा करता है, भटकता है, दुःखी होता है। ज्यों ही उसे पता पड़ा कि ओह ! यह हूं मैं, वह गया कहीं न था। था, पर दिख न रहा था। जैसे मुट्ठीमें कोई स्वर्णकी डली लिए हो और भूल जाय कि कहाँ रख दिया तो वह बाहरमें ढूंढ़ता फिरता है और दुःखी होता है, ज्यों ही उसने अपनी मुट्ठीमें देखा त्यों ही उसे देखकर वह तृप्त हो जाता है, लो यह यहाँ ही तो था, वह कहीं बाहर न था, पास वह थी, मगर उस ओर दृष्टि न थी। तो समझलो सबसे बड़ा राजा, गुरु, देव, सर्वस्व, शरण, ईश्वर आदि किन्हीं भी शब्दोंसे कह लो, जो मेरा पूर्ण अधिकारी है, स्वामी है वह तो यहीं पड़ा है, मुझमें ही पड़ा है लेकिन उसकी सुध न होनेसे वह दरिद्रता भोगता है। तो उस ध्रुव आत्माके सम्बन्धमें प्रश्नपूर्वक समझा जायगा कि इसकी विशेषतायें क्या हैं ?

अचलात्मा—इस अंतस्तत्वका नाम अचल आत्मा भी है। बहुत संयोग हुए, वियोग हुए अर्थात् विविध भाव संयुक्त हुए, बहुत सी बातें वियुक्त हुईं, इस जीवमें कितनी बातें गुजरीं, कितना यह दला गया, कितना ही इसका संघर्ष लदा, कितना आने जानेका ऊधम मचा ? कर्म, शरीर परमाणु इनमें जो यहाँ बन्ध हो रहा और ये रागादिक भाव, क्रोध, मान, माया, लोभादिक अनेक प्रकारके कषायभाव, विषय, इनमें होड़ लगी, क्षुब्ध हुए, अति हल्ला मचाया, यों कितनी ही बातें हुईं, परिणमन हुआ, अंग चले, विभाव हुए, च्युत हुए, इतना सब कुछ होने पर भी यह अंतस्तत्व अपने आपमें अचल ही बना रहा, इसका स्वभाव चलित नहीं हो सकता, नहीं तो परेशान होकर लोग अपने स्वभावकी बात छोड़ देते। जैसे कोई बहुत ही सरलपरिणामी व्यक्ति है, वह अनुचित कार्य नहीं करता है, तो यहाँ दिखता है कि उसपर बड़ी परेशानियां आती हैं, छोटे बड़े सभी आफीसर लोग उसे हैरान करते हैं, और जब अन्य लोगोंको देखते हैं कि वे तो बड़े-बड़े अनुचित कार्य करके दो चार साल में ही धनिक बन जाते हैं, तो इस घटनाको देखकर वह सरलपरिणामी भी व्यक्ति अपनी ईमानदारीको छोड़ देता है। वह सोचने लगता है कि क्या रखा है ईमानदारीमें ? इस ईमानदारीमें तो कष्ट ही कष्ट भरे हैं···। नाना पर्यायोंमें अनादिकालसे अब तक अपनेको कष्टोंमें गुजारा, संघर्षोंमें गुजारा। इतने संघर्ष हुए कि निगोद अवस्थामें जघन्य [illegible] रहा,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जड़वत् रहा, इस एकेन्द्रियकी क्या दशा हुई ? इतनी बड़ी विपदायें आयीं इस जीवपर, इतने संघर्ष झेल रहा यह जीव, लेकिन इसने अपना भीतरी स्वभाव नहीं छोड़ा। यह छोड़ा ही नहीं जा सकता। ऐसा यह अपने आपमें अचलात्मा है।

अविकारात्मा—इस अंतस्तत्वका नाम अविकार आत्मा भी है। जैसे–अचलात्मामें बताया था कि अपने स्वभावसे यह चलित नहीं होता। स्वभाव इसका चैतन्यमात्र रहा, ऐसे ही अविकार आत्माकी ध्वनि कह रही है कि इसमें कभी स्वभावमें विकार आया नहीं। देखिये–यह परख बहुत सावधानी द्वारा साध्य है, वह स्वभाव विकार रूप नहीं, स्वभावमें विकार नहीं आया। यह चैतन्यस्वभावी आत्मा यद्यपि विकाररूप धारण कर रहा तथापि याने विकार आने पर भी इसके स्वभावमें विकार नहीं आया। मेरे परिणाममें विकार तो रहा, लेकिन इस अंतस्तत्वमें विकार कभी नहीं आया, कभी आयगा नहीं। ऐसा यह अविकारी आत्मा है अंतस्तत्व। इस समूचे आत्मामें जब उस अंतस्तत्व की खोजके लिए गंभीर दृष्टिसे भीतर चल रहे हैं तो यह ऊपरी बहुत-सी बातोंको पार करके इस तरहकी बुद्धिमें न अटककर भीतरके सारभूत तत्वको निरखा जा रहा है कि इसका जो सहज भाव है, उसमें विकार नहीं आया अर्थात् चैतन्य स्वभाव अन्य रूप बन जाय, ऐसी स्थिति कभी भी नहीं आयी। ऐसा यह मैं सहज अविकार आत्मा हूँ।

निरञ्जनात्मा—इस अंस्तत्वका नाम निरञ्जन भी है याने अंजनरहित। अंजन कहलाया कोई परपदार्थ, और ऐसा पदार्थ जो इस आत्मामें एक क्षेत्रावगाही बन गया है। अब घिस-घिसकर इसमें मिल गया है, जो कुछ भी परभाव हैं वे सब अंजन कहलाते हैं, जैसे आँखमें अंजन लगा लिया जाय तो वह आँखमें दृढ़तासे लिया हुआ रहता है, उसका निकालना कठिन होता है, ऐसे ही अंजनकी भांति जो आत्मामें अंज गया है ऐसा जो कुछ भी मल है वह इस अंतस्तत्वमें नहीं पड़ा हुआ है। यह स्वभाव निरञ्जन है। यदि स्वभावमें ही अंजन हो तब पदार्थ ही सत् न रह सकेगा। जिसका कोई स्वभाव ही नियत न रहा, स्वभाव फिसल फिसल जाय तो वह किस स्वभावमें रहेगा ? तो स्वभावदृष्टिसे यह मैं आत्मा निरञ्जन हूं। ऐसे इस निरञ्जन आत्मतत्वका जिसने दर्शन किया है उसे संसारकी आपत्तियाँ नहीं रहती हैं। जब आपत्तियां आयीं, अनुभव किया तब ही समझिये कि उसने अपनी निरञ्जन दृष्टिको छोड़ दिया है। वह अन्य-अन्यरूप अपनेको समझ रहा है। इस कारणसे ये सब कषायें विकल्प आदि हुआ करते हैं। अपने घातका कारण अपना अपराध है। यह हमेशा निर्णय करके अपने जीवनको चलायें। जब कभी भी मैं दुःखी होता हूं तो उसमें कारण मेरा ही अपराध है, दूसरेका अपराध मेरे दुःखका कारण नहीं है कि दूसरेके कारण मैं दुःखी होता हूं। जब कभी पास पड़ौसकी दो औरतें कोई छोटे गोत्रवाली जब लड़ने लगती

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हैं तो अपने-अपने दरवाजेपर खड़ी होकर हाथ पसार पसारकर बड़े जोरका गाली गलौज करती हैं। और वहाँ दूसरे देखनेवालोंको ऐसा लगता है कि अब तो इन दोनोंमें कुश्ती हो जायगी, पर वहाँ काहेकी कुश्ती? उन दोनोंके मनमें तो यह बात भली भाँति जमी हुई है कि हम दोनोंमें कुश्ती न हो पायगी। तो देखिये वे दोनों स्त्रियां अपने-अपने दरवाजेपर दूर-दूर-दूर खड़ी हुई गाली गलौज करती हैं तो उनकी उस लड़ाईमें दूर खड़े हुए दर्शक लोग दुःखी हो जाते हैं, पर वे दुःखी क्यों हुए? क्या उन स्त्रियोंने दुःखी किया? उन्होंने नहीं, अरे वे स्वयं ही अपने अन्दर अनेक प्रकारके विकल्प बनाकर दुःखी हो जाते हैं तथा वे स्त्रियां भी अपने अपने अपराधसे दुःखी हैं। उन्हें सही बातकी जानकारी हो जाय तो उनका दुःख तुरन्त मिट जायगा। कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के स्वभावरूप तो नहीं बन जाता। कोई दुःखी होता है तो वह वास्तवमें अपने ही अपराध से दुःखी होता है, किसी दूसरेके दुःखी करनेसे कोई दुःखी नहीं होता। यह संसार असार है, अशरण है। यहाँ कोई मुझे बचा सकनेवाला नहीं। मैं ही स्वयं यदि अपने आपकी सावधानी रखूं, अपने परिणाम अच्छे बनाऊँ तब मेरी रक्षा है। मेरी रक्षा करनेवाला मैं ही हूं कोई दूसरा मेरा रक्षक नहीं। और की तो क्या बात, मान लो कि कभी कोई भगवान ही गल्ती कर बैठें तो फिर कौन उनको पूछेगा? सभी उनके पाससे मुख मोड़कर चले जायेंगे। कोई फिर यह लिहाज न करेगा कि चलो यह तो भगवान हैं, इनकी इतनी गल्ती माफ कर दो। भैया! भगवान तो कभी गल्ती कर नहीं सकता, फिर भी कल्पना कर लो। जगतमें कौन किसका सुधारनेवाला है? तो इस स्थितिके अतिरिक्त, सावधानी बनानेके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है कि हम यहाँ विपदाओंसे बच सकें, और वह सावधानी सही ढंगसे तब ही बन सकती है जब यह अपने इस निरञ्जन आत्मतत्त्वमें लीन हो सके। मैं तो ऐसा हूं, स्वयं ज्ञानानन्दस्वभाव हूं, समस्त परभावोंके अंजनसे रहित हूं, मेरेको क्या करना है इस जगतमें? मैं सत् हूँ और परिणमता रहता हूं। सो स्वभाव है परिणमते हुए अपने आपकी सत्ता रखनेके लिए। मेरा किन्हीं भी अन्य पदार्थोंसे प्रयोजन नहीं है। ऐसा जिनको बोध हुआ है उन्हें फिर विपत्तियाँ सामने नहीं आतीं।

परमशिव अन्तस्तत्त्व—जैसे कहा करते हैं कि पानीमें मीन प्यासी। अचरज की बात है कि पानीमें रहकर भी मछली प्यासी रह जाती है। रहती नहीं है, पर कोई मछली प्यासी रहे पानीमें रहकर भी तो जैसे उसकी मूढ़ता है इसी तरह इस ज्ञानमय, आनन्दमय, कल्याणस्वरूप, आत्माका स्वरूप स्वयं ऐसा है तिसपर भी ऐसे आत्मामें जिसका रहना हो रहा है ऐसा यह स्वयं अथवा उपयोग दुःखी रहे, क्लेश भोगता रहे, यह एक अचरज की बात है, अथवा अचरजकी बात नहीं, मछली मूढ़ हो जाय तो भले ही प्यासी रहे, ऐसे ही

Version 1

यह आत्मा मूढ़ है, मोहित है, पर्यायबुद्धिमें निरत है तो यह अवश्य ही दुःखी रहा करता है। आत्माका स्वरूप तो परमशिव है, उत्कृष्ट कल्याणमय है। यह आत्मा स्वयं परमशिव है। शिवका अर्थ है आनन्दमय, कल्याणमय और परम आनन्दमय, परम कल्याणमय। जितने लोग आनन्दके पद मानते हों उन सब पदोंमें उत्कृष्ट आनन्द तो यह ही स्वयं है। जिसे लोग अपना बड़ा मंगलस्वरूप समझते हों, कल्याण समझते हों उनमें सर्वोत्कृष्ट कल्याणस्वरूप यह आत्मा है। जब अन्तःदृष्टि की जाती है तब यहाँ यह पता होता है कि यहाँ अन्तः कुछ कारण नहीं, कुछ ढंग नहीं, कोई पिण्ड नहीं, अमूर्त ज्ञानप्रतिभास है और बन गया कितना बतंगड़ कि यह मूर्तिक हो गया, कर्मबन्ध हो गया, भटकता है, क्या स्थितियाँ हो गयीं ? यह एक अचरजकी बात ही तो हुई। तो जिन तत्त्वोंने परमस्वरूप अपने आत्मतत्त्वका निर्णय किया है और इस दर्शनके प्रतापसे यह निर्णय जिसका दृढ़ रहा है कि मैं तो यह स्वयं प्रतिभासमात्र कल्याणमय हूँ, उसको फिर व्यग्रता क्यों होगी ? दृढ़ता इसका नाम है कि फिर कल्याणके लिए, आनन्द पानेके लिए बाहरमें व्यग्रता न हो। बाहरमें आनन्द पानेके लिए व्यग्रता है तो यह मेरी कमी है, कमजोरी है, दृढ़ताका अभाव है, अथवा उसको परखा ही नहीं। वह आनन्द धाम चैतन्यमात्र आत्मा स्वयं परम शिव-स्वरूप है।

परमशरण्य अन्तरतत्त्व— देखो– आदत तो है ही सभी जीवोंमें कि अपना आनन्द पानेके लिए किसी न किसीका आश्रय तकना। सभी जीव करते क्या हैं ? कीड़ा मकोड़ा भी एक आश्रय तकते हैं, मनुष्य पशु पक्षी भी आश्रय तकते हैं कि मेरेको कहीं बाधा न हो, मेरा जीवन निर्बाध व्यतीत हो, इसके लिए किसी बड़ेका शरण, गुप्तका शरण, रक्षक का शरण चाहिए। लेकिन इस नग्न संसारमें अर्थात् जहाँ कोई किसी का लिहाज नहीं करता उसको नग्न ही कहना चाहिए। जो पदार्थ जैसा है वैसा ही रहता है। उसपर दूसरे पदार्थके स्वरूपका आवरण नहीं, प्रवेश नहीं है। तो सभी पदार्थ नग्न हैं और पदार्थों का ही नाम संसार है, अपने-अपने स्वरूपमें अवस्थित पदार्थोंका समूह रूप इस नग्न संसार में किसका शरण ढूँढ़ा जाय कि यह निर्बाध हो जाय कि लो अब कोई बाधाकी शंका न रहे। ऐसा कोई शरण नहीं है। छोटे से लेकर बड़े तक समस्त परपदार्थोंमें समीक्षण करते जाइये। आश्रयके योग्य जिसका कि आलम्बन लेनेसे फिर हम कृतार्थ हो जायें, फिर दूसरी बात न सोचनी पड़े, ऐसा शरणभूत जगतमें कुछ भी नहीं है। और यह निज ज्ञायक स्वभाव, यह परमधाम, परम तीर्थ, यह तीर्थराज यह स्वयं ऐसा शरण है कि जिसकी शरण गह लेने पर फिर कोई दूसरी बातका प्रसंग नहीं आता कि लो यहाँ तो कृतार्थता हुई नहीं, अब कुछ और शरण ढूँढ़ा जाय। तो ऐसे परमशरणमय निज अंतस्तत्वके आलम्बनसे ही

http://www.jainkosh.org

हमारा कल्याण है। उसही परमशिवस्वरूप अन्तस्तत्त्वके स्वरूपके वर्णनमें इस परिच्छेद में कुछ प्रश्न आयेंगे, जिनसे यह विदित होगा कि यह मेरा शुद्ध अंतस्तत्त्व किमात्मक है।

चित्स्वभाव अन्तस्तत्त्व—यह अंतस्तत्त्व चित्स्वभाव है। चित्—इतना कहनेसे ही उस शुद्ध आत्मद्रव्यका परिचय हो जाता है और उसके साथ स्वभाव लगाकर उसकी ही ओर दृढ़ता की गई है, उसे चित्त्व कहो, चित्स्वभाव कहो। यह चित्स्वभाव अपनी ही कला के कारण स्वयं सर्व भावान्तरोंका परिच्छेदन करनेवाला है, निराला करनेवाला है। देखो-- चीजें तो सब निराली हैं ही। उन पदार्थोंको निराला क्या करना? किन्तु उनका निरालापन जाननेमें समझ लीजिये—कितना यह निराला करना कहलाया? इसी सामंजस्यके कारण परिच्छेदनका अर्थ तोड़ फोड़ करना भी है और परिच्छेदनका अर्थ जानना भी है। अज्ञानभावमें जो सारे विश्वका और खुदका एक संघात, स्कंध कल्पनामें बन गया था, सारे विश्वके साथ आत्मीयताका भाव रखा था, इसे लगता यह था कि उसने अज्ञानसे अपनेको सर्वविश्वासात्मक बना लिया। इतनी बड़ी अपनी कल्पनामें स्कंध पिण्ड बन रहा था, लो भीतरसे ही ऐसी कतरनी चली, अन्दरसे ही प्रज्ञाकी छेनीका ऐसा प्रहार चला कि उस सबका परिच्छेदन हो गया। तो समस्त परपदार्थोंका परिच्छेदन करनेवाला यह चित्स्वभाव है। जो मात्र स्वानुभूतिसे ही प्रकाशमान है, उसे कोई कहाँ बताये? हमको दिखा दो वह चित्स्वभाव। अरे किसीके वशकी बात नहीं है, स्वयं ही शान्त हों, स्वयं ही अपने आपकी ओर उन्मुख हों, निर्विकल्प हों, आत्मकृपाका दृढ़भाव बंध गया हो तो इस मार्गसे चलते हुए वह धीरतासे अपने आपका दर्शन कर सकेगा। पर दूसरा कौन दर्शन करायगा? ऐसा यह चित्स्वभाव इसके आलम्बनमें संसारमें फिर कोई क्लेश नहीं रहता।

यह आत्मा चिद्रूप है, ज्ञायकस्वरूप है, स्वयं ज्ञानमय है। जब ज्ञानमय है, चिद्रूप है तो उस चिद्रूपताका चित्त्व बना रहे, वह चेतना, वह प्रतिभास यहाँ निरवधि रहे, यही इस का मूलमें कला है, यह एक विशाल तत्त्व है, परम तत्त्व है। उत्कृष्ट सामर्थ्यवाला है अमूर्त होनेपर भी कैसा यह उत्कृष्ट समर्थ है कि लोकालोकके समूहको यह यों ही सहज उठाकर फेंक देता है। सारे लोकालोकको पहिली पर्यायमें जान लिया। अब अगली पर्याय जो उसके अनन्तर ही हो रही है उस प्रभुके, केवली भगवानके तो वहाँ हुआ क्या कि पहिले जो जाना था सारा लोकालोक उसे तो फेंक दिया अर्थात् ज्ञानपर्यायको विलीन किया और फेंककर तुरन्त ही उसी क्षण उस लोकालोकका फिर ग्रहण कर लिया। वाह कैसी लीला है? जैसे कोई बड़ा चतुर बालक जो गेंदका खिलाड़ी है वह गेंदको ऊपर ही मारता रहता है, १०–१५ बार ऊपर ही ऊपर उसे मार मारकर उठाता रहता है, उसे नीचे नहीं आने देता, ऐसी वह लीला करता है। यहाँ तो उसकी लीलामें भी कुछ अन्तर हो गया,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लेकिन यह केवलीभगवान इसी क्षण उठाया, उसी क्षण फेंका, ऐसी निरन्तरताके साथ कैसी बाललीला कर रहा है कि तीन लोकको ग्रहण किया, फेंका। यों भगवानने इस सारी दुनियाको दुनिया ही नहीं, लोकालोकको गेंद बना रखा है। ऐसी अतुल सामर्थ्य है इस चित्स्वभावमय पदार्थमें। तो ऐसा यह स्वातंत्र्य विहार यह स्वतंत्रताका खेल कैसे प्राप्त होता है ? उसका उपाय है इस चित्स्वभावका आलम्बन, इसीके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर करते हुए इसकी विशेषतायें बतायी जायेंगी कि यह अन्तस्तत्व किस स्वरूप वाला है ?

सच्चिदानन्दके सम्बन्धमें कुछ दार्शनिकोंका विवेचन--इस अन्तरतत्त्वका नाम सच्चिदानन्द भी है। यह एक प्रसिद्ध नाम है। स्याद्वादी ही क्या, अन्य दार्शनिक भी इसको सच्चिदानन्द नाम कहकर पुकारते हैं। "ॐ सच्चिदानन्दाय नमः।" किन्तु अन्य दार्शनिकोंके सच्चिदानन्दका स्वरूपमें और स्याद्वादियोंके सच्चिदानन्द स्वरूपमें कुछ अन्तर है। अस्याद्वादियोंका सच्चिदानन्द केवल भगवान है, यह जीव नहीं है ये ज्ञानी पुरुष भी नहीं है, किन्तु एक वह ईश्वर सदाशिव वही सच्चिदानन्द स्वरूप है, ऐसा माना गया है। तो फिर यह जीव कैसा है ? यह जीव सत् है। अरे और फिर ज्ञानी पुरुष कैसा है ? यह ज्ञानी पुरुष सत् चित् है, और यह भगवान कैसे हैं ? ज्ञानी पुरुष सत् चित् है, और यह भगवान, यह सच्चिदानन्द है। देखिये कितना बढ़िया गणितका हिसाब लगा हुआ है ? और इसकी प्रसिद्धि भी देखो--संसारके प्राणियोंको सत्व कहते हैं। "सत्त्वेषु मैत्री" सर्व सत्वोंमें मेरी मित्रता हो। तो वे अन्य दार्शनिक प्रमाण भी पेश कर देंगे--देखो तुम ही कह रहे हो कि सारे जगतके प्राणी सत्व हैं, चित् तो नहीं रहे, आनन्द तो नहीं रहे, और जब इन प्राणियोंने आत्मस्वरूपका बोध किया अथवा बोध करनेवाले कोई दूसरी जातिके होंगे, ऐसे जो ज्ञानी आत्मा हैं वे चित् हैं, उनमें ज्ञान आया। बहिरात्मा तो केवल सत् है, वह चित् नहीं है, और महर्षिजन भी झुँझलाकर कह बैठते हैं कि सारे प्राणी अचेतन हो रहे हैं, होश ही नहीं है, अपनी सुध ही नहीं है, तो इन बातोंसे देखो सिद्ध हो रहा ना कि सारे प्राणी सत् हैं और ज्ञानी सत् चित् है और भगवान सच्चिदानन्द हैं। इस रूपमें कुछ दार्शनिक लोग सच्चिदानन्दका स्वरूप कहते हैं। किन्तु यह तो देखिये कि जो चित् होगा उसके साथ क्या आनन्दका निशान भी नहीं रहता ? विचार करनेपर विदित होगा कि चेतनके साथ आनन्द स्वयं बसा हुआ है, और यह बहिरात्मा प्राणी सत् बताया गया है, तो क्या इस सत्में और जो भौतिक सत् हैं इनमें क्या अन्तर है ? क्या दोनों सत् समान हो गए ? बात वहाँ यह है कि है तो सभी जीव सच्चिदानन्दस्वरूप, चाहे संसारी प्राणी हो, चाहे ज्ञानी आत्मा हो, और चाहे भगवान हो, सबमें सच्चिदानन्दमयता है, किन्तु बहिरात्माजनोंपर इतना आवरण है, इतने विषय कषाय तीव्र हैं कि विपरीत अभिप्रायका सम्बन्ध बतानेवाले हैं कि उनको अपने आपके स्व-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रूपका चित्त्व नहीं हो पाता है। जब यह अपने आपके स्वरूपका भी चेत लेता है तब इसके उपयोगमें स्वरूपकी विशेष व्यक्ति होती हैं और जब अपने आपके स्वरूपके चेतनेके बलसे इसके सर्व आवरण दूर हो जाते हैं तो पूर्ण आनन्द प्रकट हो जाता है। तो वह ही सच्चिदानन्द कहलाता है। तो यद्यपि पूर्णताकी दृष्टिसे सच्चिदानन्द भगवान है, लेकिन कितना ही कहीं कुछ रहे सभी जीव सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। संसारी प्राणियोंमें आनन्द गुणका विपरीत परिणमन हो रहा है, पर है आनन्दस्वरूप। तो यों ये सर्वजीव सच्चिदानन्दस्वरूप हैं।

सच्चिदानन्द अन्तस्तत्त्वका परिचय--सच्चिदानन्दस्वरूपमें भी जब सहज स्वभाव की दृष्टिसे विचार करेंगे तो वह सामान्य सत्त्व चित्त्व और आनन्दत्व है। जो सहज है, अपने स्वरूपके कारण है. ऐसा यह शुद्ध नयकी दृष्टिसे परखा गया अन्तस्तत्व सच्चिदानन्दस्वरूप है। यही सच्चिदानन्द कारण भगवान जब कर्मक्षयके प्रतापसे कार्यरूप हो जाता है, प्रकट सच्चिदानन्द हो जाता है तो वहाँ अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट हो जाता हैं। सच्चिदानन्दका अर्थ है अनन्त चतुष्टय सम्पन्न, सत्का अर्थ है सत्व। सत्का प्रयोग भी व्यवहारमें, शक्तिमें आता है। यह तो कुछ सत् नहीं है। इसमें कोई जान नहीं है, कोई शक्ति नहीं है। तो सत्के मायने शक्ति और चित्के मायने ज्ञान-दर्शन। ज्ञान भी चित् कहलाता है और दर्शन भी चित कहलाता है। एक सामान्य चित् और दूसरा विशेष चित्। और आनन्द तो आनन्द है ही। तो इस तरह प्रभु सच्चिदानन्दमय हैं। इसका अर्थ है कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्दमय है। यह बात उनमें कैसे प्रकट हुई और पुद्गल आदिक भौतिक पदार्थोंमें तो यह बात प्रकट क्यों नहीं होती ? तो उसका उत्तर यह होगा कि ऐसा सच्चिदानन्दका स्वभाव जहाँ हो वहाँ ही सच्चिदानन्दता पूर्णतया प्रकट होती है। तो जिसका आलम्बन लेनेसे व्यक्तसच्चिदानन्दमयता प्रकट होती है उस अन्तस्तत्वको कहते हैं सच्चिदानन्द।

शुद्धात्मतत्त्व--इस अंतस्तत्वका नाम शुद्ध आत्मतत्व भी है। शुद्ध आत्मतत्व—आत्माका तत्व, सारभूत, प्राणभूत, शुद्ध, केवल, परके लागलपेटसे रहित, अपने आप स्वतः सिद्ध, अपने स्वभावरूपमें ही शाश्वत् रहनेवाला कहलाता है शुद्ध आत्मतत्व। आत्मा और आत्मामें भी आत्मतत्व और आत्मतत्वमें भी शुद्ध आत्मतत्वी आत्माके कहनेसे तो केवल जीवमात्रका ज्ञान हुआ। एक जीवपदार्थ—आत्मा और आत्मामें रहनेवाला वह कहलाया आत्मतत्। और आत्मामें जो शाश्वत रहनेवाला है उसका भाव है आत्मतत्व, और वह भी परकी अपेक्षासे रहित लागलपेटसे रहित शुद्ध चैतन्यमात्र, वह है शुद्ध आत्मतत्व। एक प्रसिद्ध प्रयोग है। ॐ तत् सत्। यह एक मंत्ररूप है और इसके परिज्ञानमें सर्वपरिज्ञान हो जाते हैं। परिचयमें तीन बातोंका सम्बन्ध रहता है—शब्द, अर्थ और ज्ञान। किसी भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वस्तुका परिचय होता हो तो शब्द प्रयोगमें आयेंगे। शब्दों द्वारा उसकी बात समझायी जायगी और समझा क्या ? अर्थ, और समझा किसने ? ज्ञानने। तो किसी तत्वके परिचयके लिए तीन बातोंका प्रसंग आता है—शब्द, अर्थ और ज्ञान। लो शब्द तो है ॐ, ज्ञान है तत् और अर्थ है सत्। दुनियामें जितने शब्द हैं उन शब्दोंने मिलकर मानो सलाह करके एक प्रतिनिधि चुन लिया हो, ॐ में सर्व शब्द आ गए और ॐ की सकल ही ऐसी है कि यदि कोई काठका ॐ बनाये और उस ॐ के छोटे-छोटे १०-२० टुकड़े कर दें तो उन टुकड़ोंको जोड़कर सारे शब्द बनाये जा सकते हैं। अ इ उ, क ख ग आदिक सब बना दिए जायेंगे। तो सब शब्दोंने मानो सलाह करके ही इस ॐ शब्दको चुना है। हम किसी भी जगह हों अकेले ॐ तुम ही हम सबका प्रतिनिधित्व करना। तो ॐ में सर्व शब्द आ गए और तत्में सारा ज्ञान आ गया। वह है। जब किसीको किसी बातका स्मरण कराया जाता है "समझे ना वह" कि लो इतनेमें सारी बात जान गए कि वह किसको बताना चाहता था ? तो तत्में वह कला है कि वह सारा ज्ञान सामने आ जाता है। कोई भूल रहा हो, किसीका स्मरण कराया जा रहा हो, देखो ख्याल करो, यह बात भी है, लो तत्में कितना ज्ञानभरा है ? तो मानो सब ज्ञानोंमें जितना अर्थविकल्प है, जितना ज्ञान है सब ज्ञानोंने सलाह करके अपनी एक मुद्रा नियुक्त कर दी। जैसे व्यापारी जन ट्रेडमार्क बनाते हैं वैसे ही मानो सब ज्ञानोंने एक अपनी मुद्रा बना ली "तत्," जहाँ कहीं ज्ञानकी बात आये तो तुम प्रतिनिधित्व करना। सत् तो स्पष्ट पदार्थ है ही। सारे सत् आ गए।

शुद्धात्मतत्त्वकी अन्तः शुद्धि—यहाँ यह बताया जा रहा है कि आत्माका तत् जानने वाला ही जान सकेगा। "जो" के सहारेके बिना जो तत् है उसके पारखी सब नहीं हो सकते। जिस बातमें "जो" लेकर फिर "तत्" बोला जाय "जो ऐसा है वह," यह तो व्यवहारी जनों द्वारा गम्य है, लेकिन जो कि अपेक्षा बिना केवल स्वतंत्रतया जहाँ तत् का विलास हो उसका पारखी तो कोई बिरला ही होगा। तो पहिली बात तो है आत्मा। फिर बताया आत्माका तत् और उस तत्में समझी गई बातको जो भी सामान्य कर दे और छांट कर पतला बना दे, जिससे कि त्व प्रत्यय लगे, ऐसा आत्मतत्त्व, और इतने पर भी इस शुद्ध ज्ञायकभावके आलम्बनका आनन्द पानेवाले तृप्त न हो सके तो और भीतरी छाट कर लें। लो आत्मतत्त्वसे सब कुछ परखा, लेकिन कैसे वे अपने इस शुद्ध आत्मतत्त्वके लोलुपी थे कि तृप्त न होकर उसमें शुद्ध शब्द और भी जोड़ देते हैं। शुद्ध आत्मतत्त्वके आलम्बनमें कसर न रह जाय, कहीं बीचमें शैथल्य न आ जाय, बल्कि अपने आपके विषयको पुष्ट बनानेका उद्यम इन महर्षि संतों ने किया कि जिसको आधार तत्त्व व शुद्ध आत्मतत्वके नामसे कहा करते हैं, ऐसे परम आराध्य परमशरण सर्वसंकटहारी परमपिता अपने आपके अंतः प्रकाश-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मान इस अन्तर्ज्योतिका आलम्बन करने से ही सर्वसंकट समाप्त होंगे। हम आपका यही यत्न होना चाहिए कि कभी चाहे थोड़ा उपयोग कहीं चला गया, उसे फिर हटा कर एक इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी ओर ही लाना चाहिये।

चैतन्य भाव–शुद्ध अन्तस्तत्त्व—इस परिच्छेदमें अन्तस्तत्वके बारेमें वर्णन होगा, उसकी विशेषतायें बतायी जायेंगी, जिसका आलम्बन लेनेसे नियमतः संसारपदकी प्राप्ति होगी। उस अन्तस्तत्वका नाम है चैतन्यभाव। आत्माकी जानकारीके लिए आत्माकी अन्य-अन्य बातोंका ज्ञान करनेके पश्चात् उन सबको उपयोगसे हटाकर केवल एक चैतन्यभावको ही उपयोगमें लें तो उसको स्वानुभूति सुगम है, क्योंकि जाननेवाला भी यह ज्ञान है और जाननेमें जो आया है वह भी छना हुआ ज्ञान है याने चैतन्यभाव है। एक तो ज्ञान ज्ञानमें आ गया, ऐसे अनेक ज्ञान आया करते हैं और सभी पुरुषोंको जिन बाहरी पदार्थोंका ज्ञान हो रहा है तो उन पदार्थोंका ज्ञान है, यह तो व्यवहारसे कहा जाता है, पर उन पदार्थों विषयक अन्दरमें जो ज्ञान परिणमन चल रहा है, ज्ञेयाकार उसका ज्ञान है यह निश्चयसे कहा जाता है, लेकिन ऐसे ज्ञानको भी छान छानकर जो एक सुषम सहज ज्ञान स्वरसका होना जिसको यहाँ चैतन्यभावसे परिचित किया जा रहा है, वह उपयोगमें आये तो उसके उपयोगमें स्वानुभूति होना स्वयं सिद्ध ही है। इसी चैतन्यभावको शुद्ध अंतस्तत्व कहते हैं। सभी ज्ञानी जन जानते हैं, पर उन ज्ञानोंका अविशेषरूप जो एक चित्प्रकाश है वही इस जीवका शुद्ध अंतस्तत्व है। अन्तः कैसा ? इस आत्माका भीतरी तत्व, सारभूत बात जिसके बलपर फिर ये विशेष नाच रहे हैं, अथवा विभाव आदिक भी अनेक परिकर साथ लग गए हैं, किसी उपाधिके वातावरणमें, उन सबका मूल क्या है ? वह है चैतन्यभाव अंतस्तत्व। इस शुद्ध आत्मतत्वके अवलम्बनसे तीर्थंकरोंने, महापुरुषोंने अपना विकास पाया है, सदाके लिए संसारसंकटोंसे मुक्ति प्राप्त की है।

शुद्ध अन्तस्तत्वके आलम्बनका अलौकिक प्रभाव—अब इस शुद्ध अन्तस्तत्वके आलम्बनके बलसे जो बात प्रकट हुई है उस पर भी कुछ दृष्टि दीजिए ताकि इस शुद्ध अंतस्तत्वमें हमारी रुचि जगे। वे प्रभु जिन्होंने इस मार्गको अपनाया, वे हुए हैं आत्माके सहज सकल ऋद्धिसे सम्पन्न अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्तशक्ति उनके प्रकट हुई है, जिसके मूलसे, दिव्यध्वनिसे आज इतना प्रकाश हम आप पाये हुए हैं कि जिस मार्गपर चल कर हम अनेक उलझनोंको समाप्त कर डालते हैं और शुद्ध अनाकुलताके रास्तेमें लग जाते हैं, उन प्रभुकी हम आप क्या होड़ करें ? हम आप जो संसारमें है, इनमेंसे कोई बड़ेसे भी बड़ा पुण्यवान् पुरुष हो और जिसको बड़ा राज्यलक्ष्मी वैभव सम्पदा आदिक भी प्राप्त हुई हो तो वह भी तुच्छ चीज है। क्या चीज है ? देखो तीर्थंकर प्रभु जब गर्भमें ही थे,

Version 1

उत्पन्न ही हुए, बाहर ही आये तभी देखो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान विराजमान थे और इस बलसे उनको चूँकि यह सहज प्रमाण बल था सो उससे उस मोक्ष पदवीको, मोक्षमार्गको स्वयं निर्णीत कर लिया था और चले उस मार्गपर तो ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ केवलज्ञान ज्योति कि जिसके साथ ही लोकमें अनेक महाजीवोंकी अनेक ऋद्धियाँ जो थीं वे सब, सारे जीवोंके जितने ऋद्धि वैभव थे वे सब आपके ही शृङ्गार कहलाने लगे, ऐसा ही समारोह बन गया। भला जिस त्रिभुवननाथ केवली भगवानके पास तीन लोकके इन्द्र आ रहे हों, अधोलोकके इन्द्र—भवनवासी व्यन्तरोंके इन्द्र, मध्यलोकके इन्द्र, मनुष्यमें चक्रवर्ती, तिर्यञ्चोंमें सिंह और ऊद्ध्वंलोकके स्वर्गवासी इन्द्र—ये सबके सब चरणोंमें नतमस्तक हुए तब जगतमें जितने पुण्यवानोंके जो वैभव हैं वे सब आपके शृङ्गार विभूति बन गए।

भगवानकी भावभीनी पहिली शिकायत—लोकके विपुल पुण्यवंतोंमें और आप जिनेन्द्रमें महान अन्तर है, आप त्रिभुवननाथ हैं, परमगुरु हैं, तथापि हे नाथ! कुछ आपसे आपकी हमें शिकायतें भी हैं। शिकायतोंका नाम सुनकर भक्तजन भी चौंक गए होंगे और कुछ यह जाननेकी रुचि जगी होगी कि लो क्या बात कही जा रही है? जिसको जो इष्ट है उसके प्रति बड़ाईकी बात की जाय तो वह भक्तोंको रुचिकर होता है। और कोई शिकायत की बात हो तो उसे मन लगाकर सुनेंगे, क्योंकि इसमें भी भक्तोंका प्रयोजन शुद्ध है। नाथ! कुछ बातें कह तो रहा हूं, पर विश्वास नहीं है कि आप उसे सुन लें। न सुनो—कोई बड़े पुरुषसे उसकी कोई ऊँच नीच विरोधकी बात कोई कहे तो वह बड़ा पुरुष अन-सुनी कर देता है अर्थात् चित्तमें नहीं धारण करता, लेकिन उसके कान तो नहीं बहिरे हो जाते? शब्द तो सुननेमें आयेंगे। तो आपके चित्त नहीं है, आप उसे सुनेंगे नहीं तो मत सुनो, मगर आपका केवलज्ञान तो बहिरा न हो जायगा। जान तो जायेंगे ही कि कौन क्या कर रहा है? अथवा मत सुनें आप तो आपके भक्तजन ही सुन लेंगे। देखिये—एक बात आपके बारेमें बड़ी प्रसिद्ध हो रही है कि आप तीन लोकके एक बन्धु हैं, आप सबके महान हैं, गुरु हैं, लेकिन दिख तो यों रहा कि आपमें राग भी भरा और द्वेष भी भरा। व्रतोंमें आपका बड़ा राग रहा है, बड़ा राग किया था? महाव्रतोंमें, संयममें, ध्यानमें, योगमें आप बड़े अनुरक्त थे। इन बातोंकी आपमें बड़ी लोलुपता थी, और इतना ही नहीं, आप लोगोंको कह भी गये, बता भी गए कि व्रतोंमें राग करना, तो आप खुद भी अनुरक्त रहे, और दूसरों को भी अनुरागका सिल्सिला बता गए, और द्वेषकी बात देखो—प्राणिवधसे आप बड़ा द्वेष करते थे; हिंसा, झूठ, कुशील, परिग्रह आदि पापोंके आप कट्टर दुश्मन थे, और इतनी ही बात नहीं, आप बता भी गए, उपदेश कर गए जिससे कि वह द्वेष परम्परा भी चलती रहे। पापोंसे द्वेष करनेकी बात आप यहां प्रचलित भी कर गए। तो इन पापोंसे आप द्वेष

Report any errors at vikasnd@gmail.com

भी करते थे, तिसपर भी यह कहा जा रहा है कि आप तीन भुवनके एक बन्धु हैं और सबके आप गुरु हैं।

प्रभुकी भावभीनी दूसरी शिकायत—प्रभो ! आपकी जो उक्त बात कही सो यही बात नहीं किन्तु और भी सुनो। आपके सच्चे सुखमें, निरुपम सुखमें बड़ी स्पृहा है, आप उसको छोड़ना ही नहीं चाहते। भला यहाँ लोकमें दिखता है कि कोई किसीका भक्त हो, प्रेमी हो तो वह भक्तके प्रति सोचता है कि थोड़ा चलो उसे भी सुख मिल जाये, हमें कम हो जाय तो हो जाय। बढ़िया भोजन बना हो और कोई प्रेमी हो, भक्त हो, समयपर आ गया हो तो थोड़ा कम खा लेंगे, चलो भाई तुम खाओ, सुखी हो जावो, यों प्रवृत्ति कर लेगा, पर आप तो अपने उस निरुपम आत्मसुखकी इतनी स्पृहा रख रहे हैं कि एक समयको भी जरा भी नहीं छोड़ना चाहते। उसमें आप अनन्य हो रहे। तो ऐसी आपकी निरुपम सुखमें स्पृहा है। स्पृहा इच्छाकी पट्टरानी कहलाती है क्योंकि उसकी कला और तरहकी है। तो स्पृहा भी आपको बहुत बढ़-बढ़ करके है और बढ़ी चढ़ी हुई चीजमें है। इसके साथ ही साथ हमें तो यह दीखा कि आप संसारसे बहुत डर गए। डरे भी थे आप बहुत, जो संसारको छोड़ कर गए, और ऐसा छोड़कर गए कि फिर संसारकी ओर मुख भी नहीं किया। तो जो संसृति है, परिभ्रमण है उससे आप डरे भी थे, और ऐसा डरे कि आप उसके पास तक भी नहीं फटकते, ऐसा आपको संसारका भय भी है। तिस पर भी लोग कहते हैं कि ये तीन भुवनके बन्धु हैं और सबके गुरु हैं।

प्रभुकी भावभीनी तीसरी शिकायत—खैर, जाने दो उक्त दो बातोंको प्रभो ! इतनी बातसे हम अपनेमें कोई ज्यादह प्रभाव नहीं पा रहे हैं, लेकिन एक बात तो बताओ कि हम बहुतसे भक्तजन इतना कष्ट करते हैं कि आपकी भक्तिके लिए, उपासनाके लिए सुबह नहाये, जल्दी-जल्दी काम निपटाये आपकी तरफ ही धुन लगी है, लगन लगाये हैं और भी श्रम करें, मगर इतना श्रम करते हुए भी और रोज-रोज आपसे चिल्लाया, गिड़गिड़ाया भी कि "मुझ कारजके कारण सु आप, शिव करहु हरहु मम मोह ताप इत्यादि···ऐसा ही तो रोज-रोज शाम सुबह चिल्लाते हैं भक्ति करते हैं, इतनी आपसे मिन्नत करते हैं, लेकिन आपको कभी भी हम सब पर दया नहीं उत्पन्न हुई। हम ये आपकी शिकायतें किसको सुनायें ? सुन रहे हो सब। आपका केवलज्ञान बहिरा नहीं हैं, और इतना ही क्या कि आपके वह दया स्वभाव उत्पन्न नहीं होता। अरे आपने तो विकल्प मात्रसे भी मुँह फेर लिया। और चित्तसे भी आपका मुँह फिर गया, अर्थात् यह चित्त (मन) भी आपसे हट गया। मन भी न रहा, आप संज्ञी भी न रहे, अनुभय बन गये। चित्त मायने मन, ऐसे आप बेमन हो गए। अब हम लोग आपसे कोई लौकिक आशा ही क्या रखें ? यहाँ तो किसीसे मन-

http://sahjanandvarnishastra.org/

मुटाव हो तो इसको मना भी लें, लेकिन मन मुटावकी या मन रखावकी आपने जड़ ही काट दी, आपने चित्तको ही हटा दिया। अब क्या प्रसन्नताके लिए हम बात करें ? तो ऐसी स्थिति है हमारे और आपके बीच।

उक्त तीनों शिकायतोंका रहस्य व आधार प्रभुके परमगुणोंका अभिवादन—प्रभो ! यहाँ आपके बहुतसे भक्तजन बैठे हैं, कुछ उन्हें आप समझा दें, संदेश दे दें कि भाई धीरता से सुनो, उतावले मत हो। तुमको कोई हमारी शिकायतके शब्द कहे तो उसके प्रति भी समता रखो। चाहे ये भक्तजन भी रुचिसे सुन रहे होंगे कि देखो—यह क्या क्या भगवानके बारेमें शिकायत बता सकते हैं। सुनते हों, पर उनके इस सुननेका कहीं यह प्रभाव नहीं पड़ जाय कि इस प्रसंगके बाद ये भक्त भी हमसे कह उठें कि तुमने प्रभुके बारेमें क्यों ऐसा कहा ? आशा तो नहीं है, क्योंकि ये भक्त जानते हैं कि हमको भगवानकी बहुत-सी बातों का पता है, सो इन्हें छेड़ेंगे तो ये भगवानकी और भी बातें छेड़ देंगे, इस डरसे चाहे कुछ न कहें, लेकिन इतना धैर्य रखानेके लिए प्रभो आपको कह रहे हैं कि कहीं इस प्रवचनके बाद कुटी जाते समय मुड़थप्पी न करदें (हँसी)। प्रभो ! यह शिकायत नहीं है, यह एक आपसे जो इतने दिनों तकका सम्बन्ध बना है और उस सम्बन्धके होने पर भी जब कुछ प्रभाव अपने में हम नहीं देख रहे हैं, सो मुझे अपनेपर ही झुंझलाहट हो रही है। कोई पुरुष किसी धनीसे मित्रता रखे तो थोड़े दिनोंमें वह भी धनी बन जाता है, किन्तु यहाँ हम कोरे ही रहे। अरे कुछ कहकर मैं उलझनमें तो नहीं फंस रहा हूं। कोई भक्त शिकायतके शब्दों को नोट भी कर रहे हैं, शायद इन्होंने सोचा होगा कि बादमें पूछेंगे कि क्यों कहा ऐसा और कुछ मना करें कि यह तो हमने यों नहीं कहा था तो उसका प्रमाण दिखा देंगे कि देखो यह कहा था। तो यह सब बात वहीं मेरी उलझनके लिए तो नहीं बन जायगी कि जो मैं छेड़ चुका आपको नाथ ! यह उलझनकी बात न होगी। बात यथार्थ है। जीवोंका उद्धार संसारसंकटोंसे मुक्त होनेका उपाय व्रतोंमें अनुराग किए बिना बन नहीं सकता। आपने सर्वजीवोंपर करुणा करके यह उपदेश दिया। आपका जो एडवरटाइजमेन्ट है ग्रन्थोंमें कि ये प्रभु तीन लोकके नाथ हैं, गुरु हैं तो यह अत्युक्ति नहीं है, यह यथार्थ बात है। आपने जो व्रतोंकी ओर वृत्तिका सन्देश दिया है और प्राणिबध आदिक पापोंसे दूर रहनेका सन्देश दिया है वह सब जीवोंके श्रेयके उपयोगके लिए है और खुद अपनी वृत्तिसे दुनियाको बता दिया कि देखो स्वाधीन निरुपम आत्मीय आनन्दमें, स्पृहा करो और इस संसारसे डरना ही अर्थात् दूर हो जाना। प्रभो ! आपकी हम भक्ति करनेको जब भी तत्पर हों, थोड़ी भी स्तुति करें, थोड़ा भी भाव करें तो उसका प्रभाव यह होता है कि कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं, इतना अपूर्व हमें लाभ मिलता है। हम कैसे कह दें कि आपकी भक्ति स्तुति वन्दन पूजन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में इतना उपयोग लगाते हैं और हमें कुछ नहीं मिला ? अरे आपमें रागद्वेष ही नहीं हैं तो दया कहाँसे रखोगे और अदया भी कहाँसे होगी ? तो भी आपकी कितनी परमकरुणा है कि आपको कुछ नहीं सोचना पड़ता, लेकिन आपकी भक्ति करके भक्तजन वहाँ ही समृद्धि प्राप्त कर लेते हैं और मौलिक ऋद्धि प्राप्त करते हैं तो ऐसी भगवत्ता जो प्रभुमें प्रकट हुई है उनकी यह भगवत्ता भी इसी आधारसे प्रकट हुई है।

प्रभुशासनकी अनेक पद्धतियोंमें उत्तमताका वर्णन—प्रभुने शुद्ध अन्तस्तत्त्वका आलम्बन लिया और इसके प्रतापसे वे घातिया कर्मोंसे रहित हो गये। अब पूर्वमें जो कारुण्य भाव बना हुआ था उससे जो शुभ प्रकृतियोंका बन्ध हुआ था, उनके उदयमें कहो, भव्य जनों के भाग्यसे कहो, खुदके वचनयोगसे कहो, जो दिव्यध्वनि निकली, इतनी अनुपम ध्वनि उपदेश निकला, उस उपदेशमें ऐसा मौलिक शासन बताया है कि जिसके सहारेसे तत्त्वनिर्णय करनेमें किसीको कहीं बाधा ही नहीं आ सकती। यद्यपि लग रहा है ऐसा कि भगवानके वचन बड़े विचित्र वचन हैं। स्याद्वादमें परस्पर विरोधको लिए हुए बातें कही जा रही हैं। जीव नित्य है, जीव अनित्य है, जीव एक है, जीव अनेक है, यों परस्पर विरोधवाले वचन वचन हैं और उसपर भी नाना भङ्ग शाखाओंसे आकुलित कर दिया, अवक्तव्य भङ्ग और दो से मिलकर भङ्ग, तीनका मिलकर भङ्ग, ऐसी नाना भङ्गशाखाओंसे व्याप्त आपका वचन, शासन है और जो साधारण जन (पृथक् जन) हैं उनके लिए तो बड़ा दुर्गम है। जो आपकी पार्टीके लोग हैं उन्हें तो आप कुछ भी कह डालें, वे तो हाँ में हाँ कहेंगे। वे तो भक्त हैं ही, लेकिन जो आपसे पृथक् लोग हैं अन्य दर्शकोंकी स्वयं रचना करनेवाले लोग हैं उनके लिए तो ये सब बातें ऐसी रुचेंगी कि देखो विरोधवाले वचन हैं। कितनी भङ्गशाखाओंसे आकुल हैं तो ऐसे उन पृथक्जनोंके लिए ये वचन दुर्गम हैं और इनके अतिरिक्त कुछ ऐसा भी नजर आ रहा कि आपका शासन निरर्थक है, निष्फल है। उससे न घर बढ़ता है, न परिवार बढ़ता है, न धन बढ़ता है, न लौकिक बातें बढ़ती हैं। कोई फल नहीं मिलता जो आपके शासनका पालन करता है वह आत्मा निष्फल हो जाता है। संसारका फल उसे नहीं रहता। कोई यहाँकी जो विनाशीक सम्पदायें हैं, संकटके घर हैं ये ही फल माने जाते हैं। तो लौकिक प्रयोजन भी जीवोंको कुछ प्राप्त नहीं होता। लेकिन बड़ा अचरज हो रहा है कि बड़े-बड़े विद्वान लोग, गणधर इन्द्र बड़े-बड़े महान आत्मा, योगीश्वर ये आपके शासनका आलम्बन कर रहे हैं। और उनको यह शासन सम्मत हो रहा है। सो ठीक है। लोकमें ऐसी रूढ़ि है कि महान पुरुष अगर दुरुदित कह दें कुछ कठिन अथवा खोटा भी बोल दें तो वह भी उनकी ख्यातिके लिए हो जाता है, कोई छोटा पुरुष साधारण शब्दोंमें कुछ बोले—"भैया बैठ जाओ। तो उसका लोग कोई असर न मानेंगे और एक बड़ा पुरुष ही इन साधारण

Version 1

शब्दोंको वह दे तो लोगोंकी दृष्टिमें उसकी सज्जनता बड़ी भारी झलक जायगी। सो आप महान आत्मा हैं, बड़े हैं, बड़े हैं सो आपका ऐसा जो दुरुदित कहना है वह भी ख्यातिके लिये हो गया। दुरुदित शब्दका अर्थ खोटा वचन भी हो सकता है और कठिन वचन भी हो सकता है। तो ऐसा जो आपका दुरुदित है, कठिन शासन है, मार्ग है, यह सब ख्यातिके के लिए प्रसिद्ध हो गया। किसकी ख्यातिके लिए ? आत्माकी ख्यातिके लिये। अहा, ज्ञानी जन इस शासनका आलम्बन लेकर अपने आपके परमात्मत्त्वकी ख्याति, प्रसिद्धि, व्यक्ति करते हैं।

स्याद्वादशासनसे निःशल्यताकी व परमश्रेयकी अभिव्यक्ति—अब देखिये कि कैसी प्रभुकी अलौकिक ऋद्धि है, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द और उनके वचन भी कितने हितकारी हैं कि जो इस शासनका आलम्बन लेगा उसको वस्तुतत्त्वके स्वरूपमें शंका नहीं रहती। इस अपेक्षासे जीव नित्य है, इस अपेक्षासे अनित्य है, सारी बात जब सही समझमें आयगी तो शल्य न रहेगी। नित्यताका एकान्त करनेवाले दार्शनिक कहते गए नित्य, मगर जब बातें उन्हें कुछ यहाँ दिख रही हैं, यह मर गया, यह जीवित हो गया, यह इतना जीव है, क्या इस विरोधकी कुछ शल्य उन्हें न रहती होगी कि कैसे यह नित्यका एकान्त है जो हम रच रहे रहे हैं, जो अनित्यका एकान्त रच डालते हैं, कह दिया कि जीव क्षण-क्षणमें नया-नया होता है, पर उन्हें कुछ शल्य न रहती होगी क्या ? मैं सुबह भी वही था, अब भी वही हूं। कल सोच रहा था, आगे भी सोचूंगा, मुझे मुक्त होना चाहिए, क्योंकि मैं दुःखी हूं। ये सब कल्पनायें उनके चित्तमें आती होंगी तो अपने दर्शनकी शल्य न होती होगी, पर नाथ ! आपका स्याद्वाद शासन निःशल्यताको प्रकट करनेवाला है। द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है। दोनों बातें एक साथ समानरूपसे नजरमें आती हैं, उसको शल्य कहाँसे होगी ? तो ऐसा आपका शासन जो हितकारी है, विद्वानोंको प्रिय है, संसारके संकटोंसे सदा पार करनेवाला है ऐसा अलौकिक वैभव आपको जो प्राप्त हुआ है वह आपके लिए कोई वैभव नहीं। किन्तु लोकदृष्टिमें तो अलौकिक वैभव है। यह सब प्रताप प्रभुको सहज है। यह प्रताप किस बलसे प्रकट हुआ है ? इसे निरखिये—इस अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभावमय सारभूत अंतस्तत्त्वके अवलम्बनसे प्रकट हुआ है यह अनन्त वैभव। जिस अन्तस्तत्त्वके अवलम्बनसे ऐसा परिपूर्ण विलास प्रकट हो गया है, इस ही अंतस्तत्त्वका इस परिच्छेदमें वर्णन चलेगा कि वह शुद्ध अंतस्तत्त्व किस स्वरूपमें है ? और हम उसकी किस स्वरूपमें आराधना करें कि हमको परमार्थ पथ प्राप्त हो कि जिससे हम सदाके लिए मुक्त हो जायें।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वके आलम्बनका प्रभाव—प्रत्येक पदार्थका स्वभाव एकत्वमय है,

http://www.jainkosh.org

पदार्थकी समस्त पर्यायोंमें अनुगत रहता है। जो पदार्थ केवल स्वभाव स्वभावरूप परिणमते हैं उनके समस्त स्वाभाविक पर्यायोंमें वह स्वभाव शाश्वत है किन्तु जो पदार्थ विभावरूप भी परिणमते हैं उनके विभाव और स्वभाव समस्त पर्यायोंमें उनका एकत्व स्वभाव अनुस्यूत है। जीवके सम्बन्धमें भी यही बात है। जीवकी अनेक पर्यायें होती हैं—पहिले विभाव पर्याय हुई, उसके पश्चात् स्वभावपर्यायें होती हैं, स्वभावपर्यायके बाद विभावपर्याय नहीं होती। उस जीवके उन समस्त पर्यायोंमें जीवका एकत्व शाश्वत सहजस्वरूप शाश्वत अन्तः प्रकाशमान रहता है। जो महान आत्मा इस एकत्वका दर्शन कर लेता है वह संसारसे पार हो जाता है। यहां तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बिना बेईमानीके सर्वत्र चलता रहता है। जैसे जीव यदि खोटा भाव करे तो वहां कार्माणवर्गणाओंमें कर्मपरिणमन होगा और उनके उदयकालमें इस जीवके उस प्रकारके विभावपरिणमन होगा याने जैसे जो होना चाहिए वह होता रहता है। और जब यह जीव अपने स्वरूपकी संभाल करता है तो अपने आपमें बसे हुए कैवल्यस्वरूपका अनुभव हो तो ये कर्म तड़ तड़ क्यों टूट पड़ेंगे ? झड़ेंगे ही। यह भी निमित्तनैमित्तिक भावकी बात है। तो जब जीव अपने आपमें शाश्वत अन्तःप्रकाशमान इस अन्तरतत्त्वका आलम्बन लेता है तो उस जीवकी अवस्था अन्तिम क्या होती है ? वही तो एक मोक्ष अवस्था है। इसमें सिद्ध परमेष्ठी अन्तः शुद्ध, बाह्य शुद्ध, शुद्ध शुद्ध तत्त्वका शाश्वत अनुभवन किया करते हैं। ये प्रभु अरहंत सिद्ध सब मलोंसे दूर और अपने आपकी ही स्वच्छतासे भरपूर तीनों लोकके इन्द्रों द्वारा पूज्य हैं। ये प्रभु अरहंतदेव मेरे उपयोगमे स्फुरित होओ। तीर्थंकृत् अरहंतदेव बाह्य वैभवकी तुलना भी यहां किसीसे दी नहीं जा सकती, यद्यपि उनके ममत्व नहीं है, उनके वे बाह्य वैभव नहीं हैं, लेकिन जो विशिष्ट पुण्यका उदय है तीर्थंकर प्रकृतिका उदय है, अन्य भी पुण्यप्रकृतियोंका उदय है सो उसका फल यही बाह्यमें हो रहा है, अनर्घ्य वैभव आसपास है। यहां भी तो पुण्यके उदयमें जो कुछ ठाठ मिला है जीवोंको, उसको वैभव कहते हैं। इसको ममता है, उनको ममता नहीं, पर उस निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे निरखें तो यहां भी धनिकोंके, राजाओंके पुण्यके उदयसे यह वैभव प्राप्त हुआ है तो वहां तीर्थंकर प्रभुके भी पूर्वबद्ध विशिष्ट पुण्य प्रकृतियोंके उदयका निमित्त पाकर समवशरण आदिक अनेक रचनायें होती हैं। यद्यपि वहां वीतरागता की दृष्टि प्रधान है और उस वीतरागताके सम्बन्धके कारण ही इतनी महिमा इन्द्रादिकने की है तो यह विशेषता हुई। कोई पुरुष सम्यग्दृष्टि है, वीतराग है और फिर उसका लोकमें अभ्युदय है तो वह प्रकर्ष प्राप्त अभ्युदय हुआ करता है।

अरहंत भगवंतकी निरुपमा निःसंगता—अब अतुल प्रभु महिमावन्त त्रिभुवनवन्द्य अरहंत भगवंतकी एक चौथी शिकायत समझ लीजिए कि देखो—लोग आपके सम्बन्धमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो निःसंगताका स्थापन करते हैं–प्रभु आप निःसंग हैं, कुछ भी तो साथ नहीं है, और इतने बड़े भारी समवशरणकी विभूति जो देवेन्द्रोंके द्वारा रची गई है, इतना अमूल्य सिंहासन, जिस सिंहासनको बेचा जाय, ऐसा कल्पनामें मान लो तो उसे दुनियाका कोई भी धनिक खरीद ही नहीं सकता और उसका यह अतिशय, वहां तो उस सिंहासनके चोरी तकका भी भी डर नहीं है, बेचने की तो बात जाने दो। यहांके ये कम मूल्य वाले सिंहासनोंकी तो चोरी भी हो सकती है, बेचे भी जा सकते हैं, पर वह इतना अमूल्य सिंहासन है और सातिशय है कि चुराया भी नहीं जा सकता, बेचा भी नहीं जा सकता। और वह खुला प्रकट शोभायमान है। कोई बहुत मूल्यवान चीज हो और उसके चुरानेका डर हो तो उसे लोग तिजोरीमें बन्द करते हैं, पर वह सिंहासन यदि बन्द करके रखा जाय तब तो फिर उसकी शोभा नहीं जंच सकती। और वह अमूल्य सिंहासन जो दिखता तो रहता है, पर उसे कोई छू भी नहीं सकता। उसकी शोभाको कौन कहे? तो ऐसा बड़ा अमूल्य सिंहासन है। ६४ चमर ढोले जा रहे हैं और तीन आतापनिवारण याने छत्र लगे हैं। उन छत्रोंका काम है कि आतापका निवारण कर दें, अन्तः बाह्य गर्मी न आने दें, ऐसे तीन छत्र प्रभुके सिरके ऊपर लगे हैं। इतना बड़ा भारी तो संग दिख रहा है, फिर भी कहा जा रहा है कि प्रभुमें बड़ी निःसंगता है और इतनी ही बात क्या? देखो प्रभुने तीनों लोकको अपने वशमें कर लिया। थोड़ेको भी वश करना क्या मामूली काम है? ये प्रभु तीन लोकके इन्द्रोंको भी वशमें किए हुए हैं। कितना अनोखा यह जादू है। वह है केवलज्ञानका, वीतरागताका जादू, उसके बलपर भगवानने तीनों लोकको वशमें कर रखा है। तीनों लोकसे जीव उनकी ओर खिंचे चले आ रहे हैं, पाताल लोकसे इन्द्र आ रहे हैं, स्वर्गोंसे भी इन्द्र टपक रहे हैं, मध्य-लोकसे भी राजा, महाराजा, चक्रवर्ती आदिक मनुष्य तथा सिंह, बहुतसे पशु भी खिंचे चले आ रहे हैं। तो देखिये कैसा विचित्र उनका जादू है जिससे उनके पास इतना बड़ा संग जुड़ा हुआ है, फिर भी लोग उन्हें निःसंग कहते सो ऐसा कैसे?···हाँ बात समझमें आ गयी। प्रभुके अन्दर निःसंगता पूर्ण विराजमान है तभी तो देखो—वे छत्र चमर जो सिरके ऊपर ढुल रहे हैं बे उन प्रभुके सिरको छू भी नहीं सकते, नीचे जो सिंहासन है वह भी प्रभुको छू नहीं सकता, वह प्रभु तो उन सबसे विविक्त हैं, अपने अन्तःस्वरूपमें निष्पन्न हैं, इसलिए वे निःसंग हैं। यद्यपि ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं कि इतना सब वैभव भी बना रहे और निःसंग भी कहलाये, लेकिन हे प्रभो! सिर्फ आपको छूट मिल रही है। मृगेन्द्रकी मृदंगताको कोई छूट दे सकता है क्या? अरे उसमें मृगेन्द्रता तो सहज है, ठीक ऐसे ही प्रभुमें भी वह ज्ञान और आनन्द सहज है, स्वतः है। इस शुद्ध अंतस्तत्त्वके प्रतापसे, इस आत्मतत्त्वके आलम्बनसे ऐसी ही ऋद्धि प्राप्त होती है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शुद्ध अन्तस्तत्वकी परखके बिना धर्मभावकी असंभवता—यहाँ तो लोग धर्म करें इस भावसे बाह्यकी ओर खिंचे जा रहे हैं। यद्यपि किसी स्थितिमें यह साधन है, पर मूलमें कुछ धन ही पासमें न हो तो फिर ब्याज कहाँसे मिल सकेगा ? यदि अपने आपके इस अंतः स्वरूपका पता ही न हो तो भक्ति, वन्दन, पूजन आदिक कार्योंसे धर्मकार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जब मूलधन ही नहीं है तो ब्याज यहाँसे मिले ? अपने आपके अन्तः प्रतिभासमान उस चैतन्यस्वरूपकी अनुभूति है तो सब जगह हर परिस्थितियोंमें रहकर भी वह धर्मका अधिकारी है और यही बात मूलमें नहीं है तो कितना ही बड़ा तपश्चरण किया जाय, कितना ही बड़ा अन्य धार्मिक व्यवसाय हो तो भी वह व्यवसायमात्र होगा। वहाँ धर्मका अधिकार नहीं मिल पाता। तो ऐसा अतुलपद इस अंतस्तत्वके अवलम्बनसे प्राप्त होता है, इसका ही इस परिच्छेदमें वर्णन होगा। इन प्रभुको अरहंत कहते हैं। जिन्होंने शुद्ध अंतस्तत्व के आलम्बनसे ऐसा स्वच्छ स्वभाव पद प्राप्त किया है। अरहंतका अर्थ है पूज्य। अरहंत कहो चाहे अर्ल्यः कहो, एक ही अर्थ है। इसी अर्ल्यको लोगोंने अल्ला कहा है। वे प्रभु अर्ल्य हैं, जो चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर चुके हैं और पूज्य हैं। इन अरहंत भगवानके के गुणानुवादमें और इनके सम्बधित वैभवके कीर्तनमें ही प्राचीन लोग अजान पढ़ा करते थे, चत्तारिमंगलं अरहंत मंगलं तो लोग उस अजानको तो भूल गए। क्या उनमें था, किसका स्मरण किया जाता था ? चार चीजें मंगल हैं, चार लोकोत्तम हैं, मैं चारकी शरणको प्राप्त होऊँ, लेकिन वह तत्त्व ही निकल गया लोगोंकी बुद्धिसे। उस अंतस्तत्व की सुध न रही तो सारे भक्तिके कार्य सब उल्टे फल देनेवाले बन बैठे। तो ये प्रभु हम आपसे अधिक सम्बधित हैं। कभी-कभी तो इनका दर्शन कर सकते हैं। आज यहाँ नहीं, पर करते तो हैं मनुष्य उनका दर्शन। सिद्धके दर्शन तो नहीं कर सकते क्योंकि वे अशरीर हैं, लोकमें सबसे ऊपर विराजमान हैं। यहाँ हम अरहंत प्रभुकी मूर्तिके दर्शन भी कर सकते हैं और उनकी मूल परम्परामें चले आये हुए शास्त्रोंका अध्ययन करके अपना कल्याण कर सकते हैं। यही कारण है कि हम आप अरहंत भगवानकी भक्तिके लिए नमस्कारमंत्रमें प्रथम नाम लेते हैं। और जब जिससे अधिक परिचय हो जाता है तो उससे बात करना, मिलना सहज हो जाता है, तब उस स्थितिमें असली महत्ता विदित होती है।

परमात्मपदकी महत्ता—संसारके किसी भी पदमें कोई महत्त्व नहीं रखा है। हो गए राजा तो क्या मिला उसे ? कीचड़ मिला यों समझिये। वह वैभव तो कीचड़वत् निःसार है। बाह्यपदार्थोंकी धुनमें रहता हुआ वह राजा कितना कर्मबन्ध कर रहा है ? अपना संसार बढ़ा रहा है। इन बाह्य पौद्गलिक विभूतियोंमें कुछ भी तत्त्व नहीं रखा है। जो इन बाह्य पदार्थोंके पीछे ही लगा फिर रहा है वह तो गरीब है। लोकमें जिसे लोग अमीर कहते वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो गरीब है। अमीर तो सम्यग्दृष्टि हैं और उनके शाहंशाह अरहंत देव हैं। उनकी होड़ यहाँका कौन व्यक्ति कर सकता है ? जब उनकी घटनाका, उनके सिद्धान्तका परिचय विशेष होता है तब ही वह उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ होता है ? मान लो माता, पिताके निमित्तसे उनका जन्म हुआ, पर इस आत्माका परमपिता कौन, रक्षक कौन ? यह ही शासक, यह ही परमगुरु। बल्कि देखा जाय तो शरीरकी रचनाके कोई कारण बन जायें, शरीरके पोषण के कोई कारण बन जायें, वह तो शरीरकी परम्परा बढ़ा देनेका कारण हुआ, उनका उपकार क्या हुआ ? उसका उपकार तो इस संसार-परम्पराको बढ़ानेका रहा, किन्तु ये वीतराग, नि:संग प्रभु कृपालु हैं।

वीतराग सर्वज्ञ प्रभुकी उत्कृष्ट कृपालुता—कुछ लोगोंको ऐसा विदित होगा कि देखो प्रभुने कई बातें बड़ी कठिन कहीं हैं और कितनी निष्ठुरता टपक रही है कि डटकर कहते हैं, बिना हिचकके कहते हैं कि इन इन्द्रियोंका निग्रह करो, इन विषय कषायोंको समूल नष्ट दो, लो इन्द्रियोंके विषयकषायोंको समूल नष्ट करनेमें उनके वचन कितना क्रान्तिपूर्ण पड़े हुए हैं शासन में ? तो इन्द्रियके निग्रह करनेके सम्बंधमें निष्ठुर वचन भी हैं, और देखो तो जो इन प्रभुकी शरणमें आ जाता है, जो उनका आश्रय करने आता है उन आश्रितोंको बड़े-बड़े कठिन कायक्लेशोंमें लगा देता है प्रभु। अनशन करें, भूखसे कम खायें, रसोंका परित्याग करें, गर्मी सर्दीमें तपश्चरण करें। कितने कठिन आदेश हैं ? अहो उनकी इन वृत्तियोंको देखकर अज्ञानी जन प्रभुकी अनुग्रहबुद्धिका अनुमान नहीं कर सकते। प्रभुने सभी जीवोंको जो संसार के दु:खोंसे मुक्त होकर अपने आपमें मग्न होकर सुख पा सकते हैं उनको उपदेश दिया कि तुम व्यर्थके परिश्रम क्यों करते हो ? इन्द्रियके विषयोंको क्यों पोषते हो ? विषयोंको भोगते समय कोई खेद माने कि क्यों मेरी इन विषयोंमें प्रीति जग रही है, क्यों मैं इस स्वादिष्ट भोजनको खाता हुआ चैन मान रहा हूं ? अरे यह तो अंधकार है, यह तो संसारमें रुलाने की परिपाटी है। उसपर खेद हो कभी तब वह अनुमान कर सकता है कि हममें भीतरमें कितना ज्ञानप्रकाश और कितनी आनन्दकी झलक समाई हुई है ? यहाँका यह झूठा आनन्द (कल्पित मौज) तो संसारमें फंसानेका ही कारण है। सत्य आनन्दमें पहुंचनेका उपाय जिन वचनोंमें भरा हो उनकी कितनी बड़ी करुणा कही जाय ? तपश्चरणकी भी बात देखिये—इच्छानिरोधस्तप:" इन इच्छाओंका निरोध करना ही तप है। ये इच्छायें ही इस संसृतिकी जननी हैं। इच्छायें न हों तो फिर संताप क्या ? इन इच्छाओंके रोगी यहाँ सभी हैं। इस बातकी परख अपने आपमें सभी कर सकते हैं। किञ्चित् मात्र भी इच्छा हो तो वह जीवके संतापका ही कारण है। तो भला इतने बड़े संतापके निवारणकी बात जिनके वचन कहें उनकी कितनी बड़ी करुणा बुद्धि कही जाय ? और यहाँ प्रकट नजर आता है कि ६ कायके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जीवोंकी रक्षाका उनका प्रयोगात्मक प्रवर्तन रहा करता है। यही उपदेश उनका दूसरोंको है। प्रभु तो बड़े दयालु हैं।

जीवनमें सर्वश्रेष्ठ एकमात्र निर्णय अन्तस्तस्तत्त्वके आलम्बनकी कर्तव्यता—हम आपको जीवनमें ऐसा दृढ़ निर्णय रखना चाहिए—जैसे कहते हैं लोग कि इसको पत्थरमें खोदकर रख लो। ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं है। ऐसा एक दृढ़ निर्णय होना चाहिए कि मेरा इस लोकमें बाहरमें कोई भी पदार्थ शरणभूत नहीं है, सभी वस्तुवें मेरेसे अत्यन्त पृथक् हैं। मित्रजन, परिजन, प्रजाजन आदि किन्हींमें भी खोज लीजिए, क्या है कोई शरण आपका ? यहाँ जिन जिनसे भी प्रेम माना जा रहा है, जिन जिनको भी अपना शरण माना जा रहा है वे कोई भी इस जीवके लिए शरण नहीं हो सकते। बड़े-बड़े महापुरुषोंकी घटनायें देखिये--सीता सती जैसे साध्वी उसके लिए शरण कौन था ? जिनको गृहस्थावस्था में सदैव बड़े आदरके साथ एक मात्र अपना स्वामी माना था ऐसे श्रीरामने भी सीताको निर्जन बनमें छुड़वा दिया था। तो यह क्या कोई उनकी शरण्यताकी या प्रेमकी बात थी ? वे श्री राम एक महापुरुष थे। इससे उनकी इस बातको भी लोग प्रशंसाके रूपमें ही लेते हैं कि वह तो मर्यादा पुरुषोत्तम थे। चलो किसी भी अंशमें यह भी ठीक मानलो, पर जरा सीताकी अवस्था तो देखिये। यहाँ तो यही कहना होगा कि उस समय श्रीराम अपने मनमें निष्ठुरता की बात लाये। बताना यहाँ यह है कि कोई किसीका शरण हो सकता है क्या ? मेरे आत्माका शरण बाहरमें अन्य कोई नहीं है। खुद ही खुदके लिए शरण है। इतने निर्णयके बाद फिर अपने आपके भीतर भी एक निर्णय और करो। मेरेमें भी मैं यह समूचा जो कुछ नजर आ रहा हूं यह शरण नहीं है। जो कुछ भी पर्याय दृष्टिसे समझमें आ रहा है विषयकषायके भाव, विचार विकल्प तरंग, ये कोई भी मेरे लिए शरण नहीं हैं। मेरेमें अन्तः प्रकाशमान जो सहज चिद्रूप है, जो अन्तस्तत्व है, चैतन्यमात्र है, जिसको हम ज्ञानमें ले सकते हैं, वचनोंसे नहीं बता सकते हैं, ऐसा वह स्वसम्वेदनगम्य, वह शुद्ध एकत्व, उसका आलम्बन लें, वही शरण है, अन्य कोई मेरे लिए शरण नहीं है। इस जीवनमें केवल एक यह निर्णय जो रख लेगा वह पार हो जायेगा। और एक इस ही निर्णयको छोड़कर कुछ भी बाहरी काम कोई कर ले, पर उससे होगा क्या ? सर्व बाह्य पदार्थोंके संसर्गका विछोह तो नियमसे होगा। उनके प्रति जो ममता किया, जो उपयोग किया, जो कर्मबन्ध किया उसके फलमें मरण करके निम्न गतियोंका पात्र बनना पड़ेगा, नाना कुयोनियोंमें जन्म मरणके संकट सहना होगा। जन्ममरणकी परिपाटी भी लम्बी हो जायगी। यह अमूल्य नरभव पाना भी बेकार हो जायगा। इससे अपने आपकी वास्तविक शरण लें। बाहरी पदार्थोंसे कितनी ही शरणकी आशा कर करके हैरान हो लें, पर उनसे शरण नहीं प्राप्त

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हो सकेगी।

सर्वप्रिय प्रियतम अन्तस्तत्त्वकी आराध्यता— कुछ चीजें ऐसी हैं जो धनका त्याग करने से मिलती हैं। तो धन त्याग करके वे प्राप्तव्य मानी जाती हैं। कुछ चीजें ऐसी हैं जो परिवारको भी त्यागनेसे मिलती हैं, तो परिवारका भी त्याग करके प्राप्य हैं। कोई चीजें ऐसी प्रिय होती हैं जो प्राण त्यागनेसे प्राप्त होती हैं। तो प्राण त्याग करके भी प्राप्य की जावे। तो अब आप अंदाज करो कि जो चीज प्राणोंसे भी ज्यादह प्रिय हो वह उत्तम है या जो चीज प्राणोंके बादका नम्बर रखती हो प्यारके लिए वह चीज प्रिय है। सर्वप्रिय चीज कौन है ? जिसके पानेके लिए प्राणोंका भी त्याग करना पड़े और प्राप्त हो तो भला समझा जावे। तो ऐसी वह चीज है धर्म, शुद्ध अंतस्तत्त्वका आलम्बन। ये ज्ञानी, महर्षि, संतजन जो कि घर द्वार धन दौलत आदि समस्त परपदार्थोंका त्याग करके जंगलोंमें, निर्जन स्थानोंमें रहकर तपश्चरण करते हैं, जिनके शरीरको स्यालिनी, सिहनी आदिक पशु भक्षण करते हैं अथवा दुष्ट जनों द्वारा उपद्रव ढाये जाते हैं ऐसे संतजनोंमें क्या इतनी हिम्मत नहीं है कि उन उपसर्गोंको वे टाल सकें ? हिम्मत तो है पर उन्हें वे कुछ उपद्रव ही नहीं मानते। उन्हें तो इस शरीर तकका भी रंच भान नहीं रहता। उन्हें तो प्राणोंसे भी कोई प्यारी चीज प्राप्त हो चुकी है। यही कारण है कि ऐसे घोर उपसर्गोंमें भी वे रंच भी विचलित नहीं होते। उनको प्राणोंसे प्यारी कौनसी चीज मिली है ?...एक अपने आपका शरण। अपने आपके आत्मस्वरूपका शरण। तो हम आप भी अपने वास्तविक शरणको प्राप्त करनेका यत्न करें। जिसको इसका दृढ़ निर्णय हो जायगा कि मेरा शरण तो मेरा ही अंतःप्रकाशमान चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व है, बस समझिये कि उसका यह मनुष्यभव पाना, उत्तम सत्संग आदिका पाना सार्थक हो जायगा।

जीवकी बद्धता, मुक्तता व अबद्धता विषयक प्रथम जिज्ञासा— इस अंतस्तत्त्वके परिच्छेदनके लिए प्रथम प्रश्न हो रहा है कि यह सामान्य आत्मा कर्मसे बद्ध है या कर्मसे मुक्त है अथवा अबद्ध है ? प्रथम प्रश्न विकल्पका भाव यह है कि आत्मा कर्मसे बंधे हुए हैं, ये सब जीव संसारमें जो भ्रमण कर रहे हैं ये किसी बन्धन विशेषसे बंधे हुए हैं, ऐसे इन जीवों को निरखकर तो यही विदित होता है कि यह जीव समूचा बँधा हुआ है, इसके कोई अंग प्रत्यंग अबद्ध नहीं हैं, सर्वत्र बंधा हुआ है। इस विचारको लेकर यह प्रश्न किया जा रहा है कि जिस अंतस्तत्त्वकी चर्चा कर रहे हैं, जिसे आत्मामें सार है ऐसा बता रहे हो वह सार तत्त्व भी क्या बद्ध है ? दूसरा प्रश्न विकल्पमें यह पूछा गया है कि वह सामान्य आत्मा जिसकी चर्चा कर रहे हो क्या वह कर्मसे मुक्त है अथवा यदि बद्ध नहीं तथा मुक्त नहीं तो क्या वह बन्ध मोक्ष दोनोंसे रहित अथवा अबंध है। ऐसे तीन प्रश्नोंकी जिज्ञासा प्रथम हुई

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है । अनेक प्रश्न होंगे, उन सब प्रश्नोंमें सबसे पहिला प्रश्न, सबसे पहिली जिज्ञासा जिज्ञासुको ऐसी होना प्राकृतिक है, क्योंकि सर्व जीवोंको स्वतंत्रता प्रिय है । बड़े दुःखमें भी रहे और स्वतंत्रता अपनी समझे तो उसे वह दुःख भी पसंद है, पर बड़ा आराम मिले और सुख मिले, स्वतंत्रताका वहाँ घात हो तो यह आराम भी वहाँ पसंद नहीं है, यह बता रहे हैं लौकिक जनोंकी बात । अब अलौकिक पुरुषोंकी बात देखिये— कि तपश्चरणमें विविध क्लेश बताये गए हैं और सामान्यतया जानते ही हैं लोग, उपवास करें, भूखसे कम खायें, गर्मी, सर्दी आदिमें ध्यान करें, ऐसा क्लेश होता है, लेकिन वहाँ स्वतंत्रताका अनुभव हो रहा है साधुजनोंको । अपने आपका जो सहज स्वरूप है उस स्वरूपके मिलनमें उनका आत्मा तृप्त हो रहा है, उन्होंने ऐसा स्वात्मसंयम अङ्गीकार किया है, वह उनकी स्वाधीन वृत्ति है । तो इस स्वतंत्रताके त्यागमें शारीरिक सारे उपद्रव भी उनके लिए न कुछ हो जाते हैं । तो स्वातंत्र्यप्रिय है और पारतंत्र्य अप्रिय है । तो ऐसा होना एक बन्ध मोक्षका ही नामान्तर है । तो उसके विषयमें जिज्ञासा हुई है कि यह सारभूत आत्मा क्या बद्ध है या मुक्त है अथवा अबद्ध है ?

निश्चय व व्यवहारदृष्टिसे आत्माके सम्बन्धमें बद्धतादिविषयक जिज्ञासाका समाधान— अब उक्त जिज्ञासाके समाधानमें सुनो—इसका समाधान दृष्टि बलसे मिलेगा । दृष्टियोंमें मूल प्रधान दो दृष्टियाँ होती हैं–(१) निश्चयदृष्टि और (२) व्यवहारदृष्टि । अभेददृष्टि व भेददृष्टि, शुद्धनय व अशुद्धनय, भूतार्थनय व अभूतार्थनय, अन्तर्नय व बहिर्नय आदि किन्हीं भी शब्दों से कह लीजिए । एक होता है अखण्ड विषयका द्योतक और दूसरा वहाँ होता है खण्डता का द्योतक । यद्यपि खण्डताका द्योतक व्यवहार भी अखण्डताका ज्ञान करानेके लिए ही कमर कसकर आता है और तब वह भी सुनय कहलाता है, लेकिन उनका साक्षात् विषय, उनका जो साक्षात् पार्ट अदा करता है वह तो भेदपरक है, इस कारण उसे अभूतार्थ भी कहा है । तो यों दो प्रकारकी नयदृष्टियाँ मूलमें होती हैं—निश्चय और व्यवहार । व्यवहारसे जब निरखते हैं तो ज्ञात होता है कि आत्मा कर्मसे बद्ध है । कोई आत्मा कर्मसे मुक्त है । जब जीवकी पर्यायपर दृष्टि देते हैं तो कोई जीव बद्ध विदित होता है, कोई जीव मुक्त विदित होता है । कर्मोंसे बँधे हैं ऐसा दर्शन भी पर्यायदृष्टिमें हो पाता है । और जीव कर्मसे छूट गया है यह दर्शन भी पर्यायदृष्टिमें हो पाता है । पर्यायदृष्टि कैवल्यका विषय न कर अकैवल्यका विषय करनेसे अशुद्धनय है । यही व्यवहार दृष्टि है । यह नय अनेकों को विषय करता है और अनेकोंके साथ ही इसका निर्णय बना करता है । जीव कर्मसे छूट गया है । दो की दृष्टि की । की छूटनेकी दृष्टि, पर मुक्तिपना भी दो का आश्रय लिए बिना बताया नहीं जा सकता । दो का आश्रय होना ही पड़ेगा तब यह कथन चल सकेगा । तो

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

व्यवहारदृष्टिसे यह सामान्य आत्मा, यह समयसार जिसमें देखा जा रहा है ऐसा जीव, वह बद्ध है पर्यायदृष्टिसे और मुक्त है, किन्तु निश्चयतः यह जीव कर्मसे अबद्ध है। निश्चयतः क्या है ? जो है सो है। कर्मसे बँधा है, यह भी इस अद्वैत दृष्टिमें न आयगा और कर्मसे छूटा, यह भी इस अद्वैत दृष्टिमें न आयगा। वह तो जो है सो ही है। भले ही आठकाठकी खाट बन गयी। ४ मिचवा, २ पाटी, २ सिरे मिलकर खाटका रूप ले लेते हैं। मगर प्रत्येक काठको अगर देखेंगे तो वह तो वही है, अन्य कुछ नहीं बन गया। वे प्रत्येक काठके अवयव सब अपनेमें ज्यों के त्यों हैं। उनमें खाटका रूप नहीं पड़ा है पर उन सबको मिला कर एक काठका रूप दे दिया गया। तो सहजस्वरूप जो आत्मामें अपने सत्वके कारण है वह न कर्मसे बँधा है, न कर्मसे छूटा है। वह तो वही है। इस तरह व्यवहारदृष्टिमें बंध मोक्षकी परख होती है और निश्चयदृष्टिमें एक उस सहज स्वरूपकी ही निगाह होती है।

जीवके सम्बन्धमें शरीरसे संयुक्त, वियुक्त अथवा अयुक्त विषयक द्वितीय जिज्ञासा—अब इस आत्माके सम्बन्धमें द्वितीय जिज्ञासा आ रही है कि यह परमब्रह्म शरीरसे संयुक्त है या वियुक्त या अयुक्त। इसमें भी पूर्वकी भाँति ३ प्रश्न विकल्प हैं। प्रथम विकल्पमें तो सीधे सादे ठौरसे जब यहाँ जगतमें देखा गया है कि यह जीव शरीरधारी है, शरीरके बिना जीव कोई नजर ही नहीं आ रहे, सभी सशरीर हैं। शरीरके बिना जीव भी कुछ होता है, ऐसी कल्पना तक भी जहाँ नहीं है। ऐसे मूडमें लोगोंको दिख ही रहा है कि जीव शरीर संयुक्त है। तो मरण, मुक्ति आदिकी बात सुननेवालेको कुछ संदेह हो रहा कि क्या शरीर संयुक्त ही जीव है, ऐसे संदेहवालोंको यह प्रश्न विकल्प हो जाता है कि यह आत्मा क्या शरीरसंयुक्त है ? दूसरे विकल्पमें जहाँ यह दृष्टि बनती है कि लोग मरते हैं, शरीर पड़ा रहता है, जीव चला जाता है तो वह जीव तो ऐसा अलग ही है, यहाँ भी वह शरीरसे वियुक्त होगा अथवा मोक्ष अवस्थामें तो वहाँ शरीर रहता ही नहीं है, तो शरीरसे वियुक्त रहकर रहना बस यह ही जीवस्वरूप है, इस आशयमें प्रश्न विकल्प हुआ है कि क्या जीव शरीरसे वियुक्त है ? जब ये दोनों विकल्प हुए हैं और सम्भावना हो जाय कि शायद ऐसा भी हो कि ये दोनों बातें भी सही न हों तो तीसरी जिज्ञासा बनती है कि क्या यह शरीरसे न संयुक्त है और न क्या शरीरसे वियुक्त है ? याने अयुक्त ही है क्या।

निश्चय व व्यवहारदृष्टिसे उक्त द्वितीय जिज्ञासाका समाधान—उक्त प्रश्नोंका समाधान भी पूर्वकी भांति दोनों दृष्टियोंसे होगा। व्यवहारदृष्टिसे तो यह जीव कदाचित् शरीरसे संयुक्त है और कदाचित् शरीरसे वियुक्त है। इस संसार अवस्थामें यह जीव शरीरसंयुक्त है, शरीरमें रहता है। मरण करके भी यह जीव एक सूक्ष्म शरीर साथ लेकर जायगा। अगले भवमें दूसरा शरीर ग्रहण कर लेगा। फिर स्थूल शरीर सहित होगा ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यह जीव। देखिये—शरीरसे संयुक्त अनादि कालसे चला ही आ रहा है यह। अनादिसे लेकर अब तक संसारी जीवोंकी यह स्थिति न हो सकी कि ये कभी एक क्षणको शरीरसे निराले तो रह सकें। स्थूल शरीरसे न्यारे होते रहे १, २ या अधिकसे अधिक तीन समय तक, लेकिन सूक्ष्म शरीरने एक समयको भी छुट्टी नहीं दी इस आत्माको। तो इस तरह यह जीव शरीरसंयुक्त अनादिसे ही चला आ रहा है, यह बात निरखी जा रही है व्यवहार-दृष्टिसे। दो का सम्बन्ध देखा जा रहा है, दोनोंको परखा जा रहा है, स्थितियाँ देखी जा रही हैं तो वहाँ यह विदित हुआ कि यह जीव शरीरसे संयुक्त है। और जब कर्मक्षय हो जाता है, अष्ट कर्मोंका विनाश हो गया, उस समय यह जीव शरीरसे रहित रहता है तो देखो वह जीव मुक्त जीव शरीरसे रहित हो गया तो ऐसा शरीरमुक्त निरखना भी व्यवहार दृष्टिसे परखा गया है, किन्तु वह एक शाश्वत् आत्मा जो संसार अवस्थामें था वही मुक्त अवस्थामें है, इसलिए उस एकको क्या कहेंगे? यदि उसे कहेंगे कि शरीरसंयुक्त है तो शरीर जब न रहे तो उसका नाश हो गया, यों मानना पड़ेगा। यदि यह कहें कि वह तो शरीरसे मुक्त है तो उसका प्रारम्भ मोक्षसे ही माना जायगा, उससे पहिले न माना जायगा। तो निश्चयदृष्टिमें न संयुक्त है, न वियुक्त है, किन्तु वह तो अमुक्त है, जो है सो ही है अपने आपमें, परके संयोग वियोग, दोनोंका वहाँ योग नहीं है।

पर्यायबुद्धिको छोड़कर अन्तः सहज चित्स्वभावको आत्मसात् करनेकी शिक्षा—यहाँ अपने आपके शिक्षणके लिए ध्यानमें लाना कि यह जीव अनादिसे लेकर अब तक पर्यायबुद्धि करता आया है। जिस पर्यायमें गया उसी पर्यायको आपा मानकर रह गया और उसी आदतके अनुसार घूमते-घूमते आज मनुष्यभवमें हम आप आये हैं। यहाँ भी प्रकृत्या वही कार्य दुहराया जा रहा है, यह खेदकी बात है। इतना तो निर्णय करके यहाँ कुछ प्रसन्न रहना ही चाहिए कि जगतके अन्य जीवोंसे हमारी बहुत उत्कृष्ट दशा है। निगोद जीव, एकेन्द्रिय जीव, पशुपक्षी आदिक जीवोंसे हम आपकी दशा कितनी ही भली है? यह बात भी जानी जा सकती है बड़ी सुगमतासे, ऐसे इस उत्कृष्ट भवको पाकर यहाँ भी हम पर्यायबुद्धिमें रहें तब तो वैसी ही हालत समझिये जैसे कि एक कहावत है कि कहाँ गए थे?···दिल्ली।···क्या किया? भाड़ झोंका।···अरे भाड़ ही झोंकना था तो फिर दिल्ली क्यों गए, अपने ही गाँवमें रहकर भाड़ झोंकते। यहां ही क्या कमी थी? तो ऐसे ही समझिये कि हम आपने इस मनुष्यपर्यायको पाकर यदि इसे व्यर्थ ही गवां दिया तो इसके पानेसे फायदा क्या उठाया? अरे पशु पक्षी आदिककी पर्यायोंमें ही बने रहते। बल्कि यहां तो समझिये कि जैसे अपना ही गांव छोड़कर दिल्ली जाकर भाड़ झोंका तो वहां तो कुछ यहांकी अपेक्षा ज़्यादह भी कमाया, पर यहां इस मनुष्यपर्यायमें आकर इसे व्यर्थमें गवां

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

देनेमें तो कुछ भी लाभ न मिल जायगा। इस मनुष्यभवको पाकर यदि कोई अलौकिक पौरुष न किया, व्यर्थमें ही खो दिया तो वह तो भाड़ झोंकना जैसा ही कहलाया। इस मनुष्यपर्यायमें आकर यदि पर्यायबुद्धि की, विषय कषायोंकी ओर ही लगे रहे तो फिर यहां जीनेसे क्या फायदा? जिन्दा रहे तो क्या, न जिन्दा रहे तो क्या, दोनों बराबर बराबर हैं। हम इस जीवनमें पर्यायमूढ़ताको त्यागकर अन्तः चित्स्वभावका आश्रय करें।

पर्यायबुद्धिके कारण मैत्री सद्गुणका विघात—यह पर्यायबुद्धि ही एक बहुत बड़ा दुश्मन है। इसी पर्यायबुद्धिके कारण जो ज्ञानियोंके लिए चार गुण बताये गए हैं—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ आदिक ये गुण नहीं प्रकट हो पाते। जिसके पर्यायबुद्धि है अर्थात् यह जो दिखनेवाला शरीर है इसको निरखकर कहता है कि यही मैं हूं, तो भला बतलाओ जो शरीर जलकर खाक हो जायगा, राख बन जायगा उस शरीरके प्रति ऐसी आत्मीयता की बुद्धि होनेका क्या फल होगा? लोग इस मुझको (शरीरको) पहिचान जायें, लोग इसको श्रेष्ठ जानें, ऐसी शरीरके प्रति आत्मीयताकी बुद्धि रखकर अहंकार किया करते हैं, इस शरीरका फोटो बनवाते हैं, स्टेचू बनवाते हैं, तो भला बतलाओ ऐसे नाशवान शरीरमें आत्मीयताकी बुद्धि क्यों की जा रही है? मेरे मरनेके बाद हजारों वर्षों तक हमारा स्टेचू लोगोंको दिखे, कैसे हाथ पैर, कैसे गाल नाक आदि, उस अचेतन पाषाणके रूपमें इसकी मेरी बात लोगोंको झलकती रहे, ऐसी वासना रहती है तो यह कितनी तीव्र पर्यायबुद्धि है? ऐसी पर्यायबुद्धिमें रहना यह तो एक बेकारका जीवन है। इस पर्यायबुद्धिके बलपर ही तो लोग लोकमें अधिकाधिक धनी कहलवानेके लिए लोकमें अधिकसे अधिक विद्यावान कहलवानेके लिए, लोकमें नेता परोपकारी आदिक कहलवानेके लिए रात दिन श्रम किया करते हैं। पर्यायबुद्धिका यह विष, यह घोर परिश्रम, यह जीवको पीसे डाले जा रहा है। पर्यायबुद्धि रखना हम आपका कर्तव्य नहीं है। ऐसे पर्यायबुद्धि जीवोंके सब जीवोंके प्रति मैत्रीभाव कहाँसे प्रकट हो सकता है? लेकिन इस जीवके जब तक यह दृष्टि नहीं आती कि सब जीवोंमें मित्रता रहे तब तक आत्माका उत्कर्ष नहीं हो सकता। इन अनन्त जीवोंमें से घरके दो चार जीव छांटकर किसी तिजोरीमें (उपयोगकी तिजोरीमें) रख लेना, उनको जरा भी कष्ट न होने देना, ये लोग बड़े सुखमें रहें, बड़े आरामसे रहें, ऐसा जो अपने उपयोगकी तिजोरीमें बन्द कर रखा है और शेष जीवोंको ये गैर हैं, कुछ नहीं हैं ऐसा माना, उनमें चेतना ही नहीं हैं मानो ऐसा मान लिया हो, इस प्रकारकी दृष्टि रखना यह कितना घोर पर्यायबुद्धिका अन्धकार है? ऐसे जीव क्या अपने आत्माका उत्कर्ष, उन्नति, सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकेंगे? नहीं कर सकते।

पर्यायबुद्धिमें गुणिप्रमोद गुणका विघात—जिनको पर्यायबुद्धि लगी है, मेरे विकल्प

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मेरे विचार ये ही उत्तम हैं, ये ही मैं हूं और इनसे ही लोकमें मेरी श्रेष्ठता है, मैं भला कहलाता हूं, यही मैं हूं ऐसी जिसको पर्यायबुद्धि बनी हुई है वे गुणी जनोंमें वास्तविक प्रमोद कर ही नहीं सकते। उनके चित्तमें ईर्ष्या रहती है, अथवा उनके उत्कर्षकी भावना नहीं रहती। उत्कर्ष न देख सकें, हृदय उनका उत्कर्ष न सह सके, इस प्रकारकी भीतरमें जलन बनी रहती है, सो वे इस जलनमें अपना उत्कर्ष कैसे कर सकते हैं? तो पर्यायबुद्धिके महा विषपानकी दशा देखते जाइये कि यह मूढ़ता कितना अपने आत्माको घोर अनर्थमें ले जाने वाली है। जिन जीवोंमें, जिन प्राणियोंमें मैत्रीभाव है उनको उत्कर्षका अवसर है, क्योंकि वे अन्तः निःशल्य हो गए हैं, इसी प्रकार जिनको गुणियोंमें प्रमोदभाव है वे भी निःशल्य हो जाते हैं, क्योंकि उनके खुदके गुणोंकी दृष्टि हो गयी है तब ही तो गुणियोंमें गुण दिख रहे हैं। जहाँ सम्वेगभावका स्वरूप बताया गया है कि धर्म, धर्मफल और धर्मात्माओंमें अनुराग रखना, तो यहाँ अनुरागका अर्थ क्या है? वही प्रमोद। प्रमोदका अर्थ है गुणोंमें उपलब्धि। तो गुणोंमें प्रमोदभाव जगे बिना आत्मा उत्कर्ष नहीं हो सकता और पर्यायबुद्धि छोड़े बिना गुणियोंमें प्रमोदभाव जागृत नहीं हो सकता।

पर्यायबुद्धिमें कारुण्य और माध्यस्थ्य गुणका विघात—कारुण्यभाव-जिनको अपना मान लिया उनमें लोगोंके बड़ी जल्दी करुणा करुणा उत्पन्न होती है। जैसे घरका बच्चा बीमार है तो बड़ी दया आती है, इष्ट आदमी बीमार है तो बड़ा कष्ट अनुभव करते हैं, उसपर बहुत बड़ी दया करते हैं लेकिन वह दया उनकी शुद्ध दया नहीं है। वह मोहमिश्रित बात है। बताना यह है कि दयाका आधार यह है कि अपना समझना, अपने समान समझना। तो जो पुरुष सर्व जीवोंको अपने समान समझता है उसको कितनी अद्भुत करुणा प्रकट होगी? जो ऊँचीसे ऊँची बात है वही उनके लिए चाही जायगी। जिनको अपना मान लिया, जिनमें तथ्यदृष्टि हो गयी उनके प्रति सोचेंगे तो यही सोचेंगे कि जो सर्वोत्कृष्ट चीज है वह इसे प्राप्त हुई। वह है आत्मस्वातंत्र्य मुक्ति, आत्मीय आनन्दका लाभ। जिस स्वरूप रूप ही है यह। यह अज्ञानदशाको छोड़कर उस चीजको पा लेवे तो यह सदाके लिए सुखी हो जावे। ऐसी परम करुणा ज्ञानी जनोंके होती है। लेकिन जो पर्यायबुद्धि जन हैं उनके यह परम करुणा कहाँसे जगेगी? अपने आपकी ही करुणा नहीं कर सकते। माध्यस्थभाव भी पर्यायबुद्धिके परिहार बिना जग नहीं सकता। जो विपरीत वृत्ति वाले लोग हैं, विरुद्ध चलते हैं, जिनकी दोषदृष्टि है, जो ईर्ष्यालु हैं, अज्ञानी जन हैं, समझाने पर भी जो न समझ सकेंगे, समझ ही न सकेंगे, क्योंकि जो सोया हो वह जग जायगा, पर जो जागता हुआ सोने जैसा रूपक रखे, उसे कौन जगा सकता है? ऐसी विपरीत बुद्धि वाले जो लोग हैं उनमें माध्यस्थ्यभाव होना, यह बात भी पर्यायबुद्धिसे होना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कठिन है। भले ही यह बात मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी बन जाती है, ऊपरसे बन जाय, थोड़ा बहुत भीतरमें भी भाव बन जाय, लेकिन वह मौलिक बात नहीं जग सकती है, जो सम्यक्त्वके अभ्युदित होने पर जो प्रशम आदिक उत्पन्न होते हैं, मैत्री प्रमोद आदिक भाव जगते हैं वे बातें मिथ्या आशयमें नहीं हो सकतीं।

श्रेयस्कर अनुभव और यत्न--कर्तव्य यह है कि पर्यायबुद्धिका त्याग करें। जिसमें पर्यायबुद्धि छूट जाय और अपने आपके उस सहज आत्माके दर्शन करें और रहे सहे रागादिक दोषोंको दूर करनेका यत्न करें, ऐसे कर्तव्यरत पुरुषोंको बाहरी बातोंमें लगाव कैसे हो सकता है ? और चाहे दुनियाके लोग बुरा कहें या भला कहें, उसका इस आत्मापर कोई असर नहीं है, यह उनका दृढ़ निर्णय हो जाता है। यहां उस ही अन्तस्तत्त्वकी बात यहां बतायी जा रही है कि अपने आपको किस रूपमें अनुभव करियेगा ? मैं मनुष्य हूं—इस तरहका अनुभव करना गलत मार्ग है, आत्महितका मार्ग नहीं है। मैं अमुक जातिका हूं, अमुक कुलका हूं, अमुक पोजीशनका हूं, इतना धनी हूं, इतना विद्वान हूं। अरे ये सब संसार के नाटक हैं, इन नाटकोंमें आत्मीयताकी बुद्धि कोई करे तो उसका भला नहीं है। इन सब पर्यायोंसे बुद्धि हटाकर अपने आपका इस तरह अनुभव करें कि मैं तो एक सहज चैतन्यप्रकाश हूँ। भले ही यह नाना स्थितियोंमें रह रहा है, इन योनियोंमें, इन शरीरोंमें, इन मूर्तियोंमें रह रहा है और यहां कुछ विषय कषाय क्रोधादिकके भाव भी चल उठते हैं, कभी कभी शुभभाव भी चलते हैं, इतनी स्थितियां भी हो रहीं, लेकिन ये मैं नहीं हूं। मैं तो इनसे विविक्त एक सहज चैतन्यस्वरूप हूं। इस तरह अपने आपमें तथ्यभूत अहंताका अनुभव हो और इन अध्रुव पर्यायोंमें अहंपनेका अनुभव रहे, ऐसी दशा यदि बन जाय तो लोग चाहे मेरे प्रति कुछ कहा करें तो मेरा तो भला ही हो गया। अपनी भलाईके लिए इन पर्यायोंमें अहंरूपका अनुभव न करना, किन्तु शाश्वत् अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यप्रकाशमें अहंरूपका अनुभव करना, यह हमें इस प्रकरणसे शिक्षा लेना है। हमारा उपयोग इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वके चिन्तनमें, मननमें रहा करे और इसमें लीन हो, ऐसी अपनी भावना और यत्न होना चाहिए।

आत्माके कर्तृत्व अकर्तृत्वके विषयकी तृतीय जिज्ञासा—अब जिज्ञासुकी यह तृतीय जिज्ञासा चल रही है कि यह आत्मा क्या स्वभावका कर्ता है या विभावका कर्ता है अथवा अकर्ता है ? जगतमें क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय कषाय, इच्छा इनका परिचय हो रहा है। अपनी प्रवृत्ति और लौकिक प्रवृत्तिसे यह स्पष्ट हो रहा है कि यहां विषय कषाय इच्छा आदिक हैं तो इनका करनेवाला तो यह जीव ही होगा, क्योंकि ये परिणमन जीवोंके हैं, जीवकी अवस्थायें हैं, तो इनको करनेके लिए और कौन आयगा ? ऐसा आशय रखकर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यह जिज्ञासा बन रही है कि यह आत्मा क्या इन विषय कषाय आदिक विभावोंका कर्ता है ? तथा साथ ही यह भी विदित होता है कि जब ये रागादिक किसीके कम हैं, किसीके और कम हैं तो किसी जीवके बिल्कुल भी न होंगे। यहाँ उसका ज्ञान किसीके अधिक है, किसीके और अधिक है तो किसीमें ज्ञान पूर्ण होगा। तो ऐसी स्थिति जिनको प्राप्त हुई है अर्थात् ज्ञान तो परिपूर्ण हो गया है और रागादिक भाव बिल्कुल भी नहीं रहे हैं, ऐसी स्थितिमें जो भी ज्ञान बन रहा है वहाँ शुद्ध आनन्द बन रहा है, ऐसे ऐसे उन स्वभावभावों का यही जीव कर्ता होगा, ऐसा आशय रख करके इस जिज्ञासाका दूसरा विकल्प पूछा जा रहा है कि क्या यह स्वभाव भावका कर्ता है अथवा यह भी सम्भावित किया जा सकता है कि न तो यह आत्मा विभावका कर्ता है और न स्वभावका कर्ता है, किन्तु अकर्ता है। जैसे कि अन्य अद्वैतवादियोंने भी स्वीकार किया है कि यह ब्रह्म तो नित्य अकर्ता है तो ऐसे इन तीन विकल्पोंके साथ यह तृतीय जिज्ञासा हुई है।

उक्त जिज्ञासाके समाधानमें कहते हैं कि यह चेतन कर्तृत्वके सम्बन्धमें जब परीक्षित होता है तो व्यवहारदृष्टिमें यह विदित होता है कि यह विभावभावका कर्ता है। विषय कषाय आदिक परिणामोंका करनेवाला है, और जब एक शुद्ध पर्यायकी दृष्टिमें देखा जाता है, कर्ममुक्त जीवोंको देखा जाता है तो वहाँ विदित होता कि यह स्वाभाविक भावका करने वाला है। ये दोनों बातें व्यवहारदृष्टिसे विदित होती हैं, पर निश्चयतः तो यह आत्मा, सामान्य आत्मा यह अंतस्तत्त्व, जिसके सम्बन्धमें पहिले बहुत वर्णन किया गया था कि उस तत्त्वके बारेमें बात कही जायगी, उसका परिचय दिया जायगा, वह शुद्ध अन्तस्तत्व सामान्य आत्मा वह अकर्ता है। यहाँ निश्चय और व्यवहारका अर्थ है शुद्ध नय और अशुद्ध नय। जहाँ कैवल्यकी दृष्टि हटी और कुछ भी उसमें अध्रुव या कोई भी तरंग आये उसमें परिणमन रूप ही द्वैतको समझना चाहा तो वह सब अशुद्ध नय कहलाता है। जहाँ ही कोई भेद जंचा, भीतरसे ही कहीं कुछ नयके विचार चले कि वहाँ द्वैतबुद्धि आ जाती है। प्रभु अरहंत सिद्ध ये अनन्त ज्ञानादिक स्वाभाविक परिणमनोंके कर्ता हैं। यह भी अशुद्ध नयमें कहा जा रहा है। यहाँ अशुद्ध नयका अर्थ पर्याय अशुद्ध न लेना, किन्तु द्रव्यकी दृष्टिसे चिग कर जो पर्यायभेद दृष्टिमें आया उस नयसे कहा जा रहा है कि प्रभु ज्ञान और आनन्दके कर्ता हैं। केवल एक ही शुद्ध शाश्वत कैवल्यको निरखने पर वह कर्ता नहीं है यह ज्ञात होता है। द्रव्यदृष्टिसे चिगकर शुद्ध पर्यायकी भी दृष्टिमें आये तो भी वह अशुद्ध नय है। और जब अशुद्ध पर्यायकी दृष्टिसे बताया जाय तो वह अशुद्ध नय प्रकट ही है। तो इस अशुद्ध नय में गर्भित सर्वपर्यायोंकी दृष्टिको व्यवहारनय कहा गया है। तो व्यवहारदृष्टिसे यह जीव स्वभावभावका कर्ता है, विभावभावका कर्ता है और निश्चयदृष्टिसे अर्थात् शुद्ध नयसे ऐसी

Version 1

निश्चयदृष्टिसे जिसके कि भेद नहीं किए जा सकते उस दृष्टिमें यह आत्मा अकर्ता है।

निश्चयनयके तीन प्रकारोंमें परमशुद्धनिश्चयनयका शुद्धनयसे साम्य—निश्चयनय के तीन प्रकार भी बताये गए हैं— (१) परमशुद्ध निश्चयनय, (२) शुद्ध निश्चयनय (३) अशुद्ध निश्चयनय। परमशुद्ध निश्चयनयका भाव है इस शुद्धनयसे। इस प्रकरणमें जिसको शुद्धनय कहा जा रहा है वह परमशुद्ध निश्चयनय है। गुणपर्याय आदिक भेदोंसे रहित केवल एक शाश्वत स्वभावमें ग्रहण होना सो शुद्धनय है, परमशुद्ध निश्चयनय है, अथवा भूतार्थनय है। तो निश्चयनयके तीन प्रकारोंमें परमशुद्ध निश्चय तो शुद्धनयसे अनर्थान्तर है। अब निश्चयनयके दो प्रकार देखिये—शुद्ध निश्चयनय, और अशुद्ध निश्चयनय। शुद्ध निश्चयनयका अर्थ है कि केवल द्रव्यको उसकी शुद्ध पर्यायोंरूपमें निरखना और उस शुद्ध पर्यायका उसही द्रव्यसे सम्बन्ध निरखना अर्थात् ये अनन्त ज्ञानादिक शुद्ध परिणमन इस आत्मासे हुए, इस ही के द्वारा हुए, इसही रूप यह परिणाम रहा है। सारा सम्बन्ध वहीं निरखना। यहाँ यह बात दृष्टिमें न आयगी कि कर्मोंके क्षयसे अनन्तज्ञान उत्पन्न हुआ है, क्यों कि शुद्धनिश्चय दृष्टिका अभी इस दृष्टाने व्रत ले रखा है। तो उस ही शुद्धपर्यायरूपमें उस द्रव्यको निरखना, यह है शुद्ध निश्चयनयका काम। तो यह भी व्यवहारनयमें गर्भित है। जो प्रकरणमें व्यवहारनय कहा जा रहा है उसका अर्थ है कि अभेदसे चिगकर भेदमें आना। शुद्ध पर्यायको भी देखा, किन्तु भेदमें आया तो वह भी इस प्रसंगमें व्यवहारनय है। अब अशुद्ध निश्चयनयका विषय देखिये। यह अशुद्ध निश्चयनय पदार्थकी अशुद्ध पर्यायको उस पदार्थमें निरखना, वहांपर भी उसही में अद्वैत बुद्धि बनायी गई है कि यह रागादिक भाव यह कषायभाव आत्माका परिणाम है। आत्माकी परिणतिसे हुआ है, आत्मामें हुआ है और आत्माके लिए हुआ है। उसका फल भी इसे प्राप्त हो रहा है, इस तरह उन अशुद्ध पर्यायोंको उस ही एक द्रव्यमें सम्बन्धित देखना, यह है अशुद्ध निश्चयनयका दर्शन। यहाँ भी यह व्यवहारनयमें माना गया है, तो व्यवहारनय शुद्ध निश्चयनय अशुद्ध निश्चयनयका विषय भी बता रहा है और इसके अतिरिक्त जो अन्य व्यवहार है कर्मोंका सम्बन्ध, परद्रव्य का मेल इसको भी बताता है। तो यहाँ व्यवहारनयसे देखनेपर तो यह विदित होता है कि जीव स्वभावभावका कर्ता है और विभावभावका कर्ता है। पर निश्चयनयकी दृष्टिसे शुद्धनय, परमशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे यह जीव अकर्ता है।

किसी दृष्टिका एकान्त करके मान्यता बनानेमें विडम्बना—यहां इतना और ध्यानमें लाइयेगा कि निर्णय तो इस तरह है, लेकिन जिस दृष्टिमें जो बात दिख रही है उसको एकान्ततः मान लेना कि सर्वथा ही ऐसा है, बस इस एकान्तवादमें इन अनेक मतोंकी उत्पत्ति हुई है। जहां किसीका सिद्धान्त है कि ब्रह्म सर्वथा अकर्ता है और जब प्रश्न किया जाता है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि यह ब्रह्म सर्वथा अकर्ता है तो ये रागद्वेष जो यहां नजर आ रहे हैं इनका करनेवाला कौन है ? तो उत्तर दिया जाता है कि प्रकृति। यद्यपि यहां तक भी कुछ समन्वय था कि प्रकृतिका उदय होनेपर रागादिक हुए। हुए आत्मामें, लेकिन प्रकृतिके साथ अन्वयव्यतिरेक है रागादिकका ऐसे प्रकृति कर्ता है, ठीक है, लेकिन यह प्रकृति प्रकृतिरूपमें न रही, कर्म-प्रकृति रूपमें प्रकृतिको नहीं माना गया, किन्तु प्रकृति है, कोई कुदरत है, कोई अन्य चीज है इस तरहसे बिल्कुल ही सम्बन्ध तोड़ दिया। आत्माका आधारवाला भी सम्बन्ध कुछ न रहा। तो ऐसा एकान्त बनानेकी जिनकी दृष्टि है उनमें बुद्धि चलती है कि वह ब्रह्म सर्वथा अकर्ता है। तत्त्व तो यह था कि यह ब्रह्म अपने सहजस्वभावरूपसे रागादिकका कर्ता नहीं है, वह तो जैसा है सो ही है। हां उस पदार्थमें पर्याय है, पर जिस समय पर्यायके सम्बन्धमें कोई खोज कर रहे अथवा निर्णय दे रहे तो उस समय उसकी पर्यायरूपसे ही वहां निर्णय है, न कि उसका सर्वरूपसे निर्णय है। तो इस तरह जो कहा है कि यह ब्रह्म अकर्ता है तो नयदृष्टिसे समझे तब तो संगत बैठता है और सर्वथा समझे तो संगत नहीं बैठता है, क्योंकि व्यवहारदृष्टिसे यह आत्मा कर्ता है। अब कोई व्यवहारदृष्टि वाला ही एकान्त रख ले कि इन रागादिकका करनेवाला यह जीव ही है, अन्य कोई नहीं है और इस दृष्टिवाला दार्शनिक भी है, जिसने यह स्वीकार किया है कि जीव कभी रागरहित नहीं होता। मुक्त भी यह हो जाय तो भी इसका अर्थ है कि इसका राग मंद है, दबा हुआ है, तब तक इसे बैकुण्ठ है और जब सदाशिवकी इच्छा होगी तो वह उन मुक्त जीवोंको (बैकुण्ठ गए हुए जीवोंको) वहांसे ढकेल देगा। फिर उनको उस संसारमें रुलना पड़ेगा। यह कुछ कथा-सी लग रही है। कुछ दर्शनसा जंच रहा है, तो इनके कथानकका भी आधार तो यही होगा। संसारी जीवोंके लिए कि संसार अवस्थामें यह जीव कभी मंदराग भी हो जाय, शुक्ललेश्या जैसी स्थिति हो जाय तो यह हो जाय। इसको लोग बैकुण्ठ कहें तो कह दें, लेकिन वहां मुक्ति नहीं है। ऐसा बैकुण्ठ तो नवग्रैवेयक माना जा सकता है, जहां शुक्ललेश्या है, मंदराग है, कोई झंझट नहीं है, भूख प्यास जैसी कोई वेदना भी नहीं है। लौकिक दृष्टिमें ऐसा स्वरूप बताया जाय तो लोग तो उसीको भगवान कहेंगे। जब यहां अवतारवाले भगवानमें खाते पीते, कपड़े पहिनते, विवाह करते, लड़के बच्चोंसे सहित होते हुए भी लोग उन्हें भगवान कह डालते हैं तो ऐसा अगर नवग्रैवेयक देवोंका स्वरूप बताया जाय तो क्या लोग उसे भगवान न कहेंगे ? लोकदृष्टिमें चाहे वह भगवान है, लेकिन वहां होता क्या कि ३०–३१ सागर तक भी उनकी स्थिति होती, उतनी अवधि जब पूरी हो गयी तब वहां राग उखड़ गया। जन्म लेना पड़ा। राग उखड़ा तो अन्तःसे ही तो उखड़ा है और अन्तः स्वरूप सदासे मौजूद है। उस समय जब उखड़ा तो यह लगेगा कि यह सदाशिव क्षुब्ध हो गया।
Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यों कथानक भी बन गया हो, लेकिन यह दृष्टिमें न रहा कि वहां कोई मुक्त दशा न थी और राग बराबर रहा आया।

वीतराग सर्वज्ञ अवस्थाकी सिद्धि—भैया ! मन्दकषाय बैकुण्ठवास (ग्रैवेयक) से भी परे कोई दशा जीवकी हो सकती है, जो रागरहित होती है। युक्तिसे भी विचार करें कि जो बात नैमित्तिक है और वह कम कम देखी जा रही हो तो यह निश्चय नहीं है कि कहीं वह चीज बिल्कुल भी नहीं रहती—एक बात। दूसरी बात यह है कि जो किसी प्रतिबन्धक के द्वारा रोका जा सकता हो और वह कहीं अधिकाधिक देखा जा रहा हो तो यह निश्चय है कि किसी जगह वह बात परिपूर्ण भी प्रकट होती है। यह बात इसलिए कही जा रही है कि अभी जो यह कहा गया था कि राग जब मंद मंद देखे जा रहे हैं तो किसी आत्मामें राग लेश भी न रहे, यह भी सम्भव है।

तो यहां कोई यह प्रश्न कर दे कि जब जीवोंमें ज्ञान मन्द-मन्द देखे जा रहे हैं, किसीमें ज्ञान कम है, किसीमें और कम है तो कहीं एक ऐसा भी जीव होगा कि जहाँ ज्ञान बिल्कुल भी न रहता होगा, यह शंका की जा सकती है। इसके ही निवारणके लिए यह बात बता रहे हैं कि जो नैमित्तिक भाव है, किसी प्रतिबंधके उदयसे, उपाधिके उदयके कारण हुई है वह चीज यानी रागादिक जहां मंद-मंद पाये जा रहे हों तो उसका यह निर्णय है कि कोई जीव ऐसा है कि जहाँ रागादिक कतई नहीं रहते। अब दूसरी तरफ देखिये, यह बात बतायी गई है कि जो बात किसी प्रतिबन्धकके, आवरणके कारण रुकी हुई है और वह चीज कहीं अधिकाधिक मालूम पड़ रही है तो वह किसी आत्मामें परिपूर्ण है, यह निश्चय होता है। यह बात इसलिए कही गई कि कोई ऐसा स्वीकार न कर ले कि जैसे राग कम कम पाये जा रहे हैं तो वहाँ यह निर्णय बना कि कहीं राग लेशमात्र भी नहीं रहता। इसी तरह ज्ञान जब जीवोंमें मंद मंद देखे जा रहे हैं तब कोई जीव ऐसा भी होगा जहाँ ज्ञान कतई नहीं रहता। किन्तु ऐसा कहना बिल्कुल असंगत है, क्योंकि ज्ञान औपाधिक नहीं है। इसी प्रकार कोई यह न मान बैठे कि राग जब अधिकाधिक पाये जा रहे हैं तो कोई ऐसे भी जीव हैं जिनमें राग सर्वाधिक एक रूपसे पाया जाय। वह तो नैमित्तिक चीज है। राग भी अधिक होता है, मगर कोई राग ध्रुव रह जाय और सदाकाल उस उस ही प्रकारसे परिणमे, ऐसा वहाँ न होगा। हाँ ज्ञान जहाँ परिपूर्ण विकसित हो जाता है वहाँ बात आ पड़ेगी कि वैसा ही ज्ञान पूर्णज्ञान शाश्वत बना रहे, परिणमता रहे, तो इन युक्तियोंसे यह सिद्ध हुआ कि कोई आत्मा ऐसा हो जाता है कि जहाँ ज्ञान तो परिपूर्ण हो और रागादिक भाव रंचमात्र भी न हों, ऐसी स्थिति जिनकी हुई है उन्हें कहते हैं मुक्त, परमात्मा तो उस अवस्थामें यह जीव स्वभावभावका कर्ता है ऐसा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कहा जाता है। व्यवहारदृष्टिसे यह निरखा जाता है। तो वस्तुतः जो एक सहज अंतस्तत्त्व है शुद्ध अंतस्तत्त्व, सामान्य आत्मा, वह न स्वभावभावका कर्ता है, न विभावभावका कर्ता है। इसमें कर्तृत्वका विकल्प ही नहीं होता है। यहाँ हमें दृष्टि देना है इस अकर्ता अंतस्तत्त्वकी ओर। बात यद्यपि कर्तृत्व सम्बन्धी पहिली दोनों भी सही हैं, मिथ्या नहीं हैं कि यह जीव अशुद्ध पर्यायका भी कर्ता है और शुद्ध पर्यायका भी कर्ता है, लेकिन यह कर्तृत्व पर्यायदृष्टिसे निरखा गया है। जब उस एक द्रव्यको निरखते हैं तो वह आत्मद्रव्य, वह ध्रुव आत्मा कर्ता नहीं है और कर्ता नहीं है इस प्रकारके निषेध करनेकी भी बात व्यवहारसे आयी हुई है। निश्चयतः तो जो है सो ही है, वह तो निश्चयदृष्टिमें निरखा जा रहा है।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी आश्रेयताका स्मरण—हमको इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी ओर दृष्टि देना है, उसका आश्रय लेना है, वहाँ उपयोग जमाना है। उपयोग जम नहीं रहा, वहाँ दृष्टि दृढ़ नहीं हो पा रही, सो इसका कारण यह है कि उसका परिग्रहण भी और अभ्यास भी नहीं है। और उसके कारण लोग ऐसी आशंका भी कर सकते हैं कि कहाँ है वह अंतस्तत्त्व, लेकिन युक्ति भी बताती, आगम भी बताता और जिन्होंने स्वानुभूति किया उनका अनुभव भी बताता है कि वह एक शुद्ध चैतन्यभाव और उसका दर्शन यों बाहरी ज्ञान द्वारा नहीं होता, यों इन्द्रिय और मनके व्यापारसे नहीं होता, किन्तु स्वयं प्रेक्टिकल ढंगसे उस आचरणमें लगना होगा, तब उस स्वरूपके आचरणके अभ्याससे उसका अनुभव और दर्शन होता है तो यही एक कार्य इस जीवनमें किया जाने योग्य है। पूर्णतया जिसके निर्णय हुआ कि केवल एक यही कार्य है इसीलिए हमारा जीवन है उसको यह आनन्दधाम उपलब्ध हो जाता है। अतः इस आनन्दधाम ज्ञानमय तत्त्वके अतिरिक्त, आलम्बनके अतिरिक्त और मेरे करनेको कुछ नहीं है। ऐसी दृढ़ श्रद्धाके साथ हमें इसकी धुन रखना चाहिए।

आत्माके भोक्तृत्व अभोक्तृत्व विषयकी चतुर्थ जिज्ञासा—अब चौथी जिज्ञासामें पूछा जा रहा है कि यह ध्रुव आत्मा स्वाभाविक पर्यायोंका भोक्ता है या विभाव पर्यायोंका भोक्ता है या अभोक्ता है? इस जिज्ञासामें भी पूर्ववत् ३ विकल्प हुए हैं इस जिज्ञासुने जब यह लोकमें देखा है कि जीव सुखी, दुःखी, आकुलित, क्षुब्ध, इन पर्यायोंमें, अवस्थाओंमें चल रहे हैं, और अन्य जीवोंमें ही क्या दुःख? खुदमें ही अनुभव किया इसकी अशान्ति, सुख दुःख, विकल्प विचार, तरंग ये नाना उत्पन्न हो रहे हैं, तो इनके ये भोगनेवाले बन रहे हैं। तो यह जीव विभावपर्यायोंका भोक्ता तो है ना। इस तरह यह प्रश्न विकल्प हुआ है कि क्या यह ध्रुव आत्मा, यह पूरा आत्मा क्या इन विभावपर्यायोंका भोक्ता है? अथवा विभाव पर्यायें जब नहीं रहती हैं, एक स्वाभाविक ज्ञानानन्द जहाँ बर्तता रहता है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऐसी स्थितिको आशयमें रखकर प्रश्न विकल्प हुआ है कि क्या यह स्वभावपर्यायोंका भोक्ता है ? मुक्त हो गया जीव, शुद्ध ज्ञानानन्दरसमें लीन हो गया जीव तो वहाँ क्या दिख रहा है ? आनन्द भोग रहा है। वहाँ भी आनन्द न भोगे, आनन्द न मिले तो वह भगवान क्या है ? ऐसे आशयसे यह जिज्ञासा बनी है कि क्या यह आत्मा स्वभावपर्यायका भोक्ता है ? अथवा जब सामने दो प्रश्न विकल्प हैं तो यह सम्भावित है कि न स्वभावपर्यायका भोक्ता होता, न विभावपर्यायका। तो क्या इस तरह अभोक्ता है ? ऐसे तीन प्रश्न विकल्पोंमें यह चौथी जिज्ञासा बनी।

आत्माके भोक्तृत्व अभोक्तृत्वविषयक जिज्ञासाका समाधान—उक्त जिज्ञासाके समाधानमें कहते हैं कि इस प्रसंगका भी समाधान पानेके लिए उन दो दृष्टियोंसे समझना होगा—निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि। व्यवहारदृष्टिसे तो यह आत्मा रागद्वेषादिक विभाव पर्यायोंका भोक्ता है और कर्ममुक्त होनेपर स्वभावपर्यायका भोक्ता है, किन्तु शुद्धनयकी दृष्टिमें जिसका विषय सहज सत्त्व है, यह आत्मा अभोक्ता है, न स्वभावपर्यायका भोक्ता है, न विभावपर्यायका। भोक्ता मात्र ही नहीं है। भोक्तृत्वका अर्थ अनुभवन ले लीजिए। तो अनुभव बिना कौन जीव रहेगा ? किसी भी जगह जीव हो, कुछ भी परिस्थिति बन रही है उस परिस्थितिको भोग रहा है। ज्ञानी ज्ञानमय परिणामका भोक्ता है, अज्ञानी अज्ञानमय परिणामका भोक्ता है और सिद्ध प्रभु परमात्मदेव उस शुद्ध ज्ञानानन्दको भोग रहे हैं। तो अनुभवन सबमें चल रहा है। उस दृष्टिसे निरखनेपर यह जीव भोक्ता है, अनुभवन करनेवाला है, लेकिन यह जीव जो अनुभवन करता है और जो परिस्थिति मिली है उस पर्यायको भोगता है, ऐसा निरखनेमें तो द्वैत बुद्धि हुई, भेदबुद्धि हुई। एकमें ही भेद करके समझा गया है, सो भले ही यह सद्भूत भेद है, लेकिन वस्तु सहज तो अभेद स्वरूप है। कोई भी पदार्थ हो हम उसकी परिणति और उसका प्रयोजन निरखकर भेद कर लेते हैं। एक अग्नि ही है। अग्नि अपने स्वरूपमें जो है सो है और जिस स्थितिमें है वही उसकी स्थिति भी है। लेकिन उसे समझनेके लिए जब हम कहते हैं—देखो यह अग्नि जलती है, यह अग्नि प्रकाश करती है, यह अग्नि भोजन पकाती है, इस तरह हम भेद करते हैं। यह भेद असत्य नहीं है। काम सब हो ही रहे हैं उस अग्निके द्वारा। अग्नि जलाती है, और इसे कोई मना करें तो झट उसके हाथपर अग्नि रख दो। वह झट कह उठेगा अरे रे रे– अग्निने तो जला दिया। तो ये भेद असत्य नहीं हैं। किन्तु इन्हें अभूतार्थ यों कहा गया है कि उस पदार्थमें उसके सहजसत्त्वके कारण कहाँ यह भेद नहीं डाला हुआ है। जीव रागादिक भावोंका करनेवाला है। उस रूपसे परिणमता है। तो जीव रागरूप परिणमता है, यह यद्यपि व्यवहारसे कहा है। तो यह बात असत्य है क्या ? कि जीव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रागरूप परिणम रहा है ? असत्य नहीं है। परिणमता है अन्यथा मोक्षमार्ग समाप्त हो जायगा। किसके लिए मुक्ति करना, मोक्षमार्ग करना ? यह तो रागरूप परिणमता ही नहीं है। जब यह मुक्त ही पड़ा हुआ है तो फिर मुक्ति मायने क्या ? उसमें कार्य क्या ? तो यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा रागी नहीं है या राग परिणमन वाला नहीं है। आत्मा रागी है, यह बात तथ्यकी है, लेकिन जीवमें जीवके ही सहज शक्तियोंके कारण, स्वरूपके कारण यह बात बनी हो, सो नहीं है। तब उस दृष्टिसे यह असत्य है और यह अभूतार्थ है, और इस दृष्टिमें राग अभूतार्थ है, राग परिणमन, रागकर्तृत्व अभूतार्थ है। इसको जरा गौण करके अब शुद्ध पर्यायकी बात भी देखो कि यह जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त रूपका परिणमाता है, कर्ता है—यह कहा, सो यह भी अभूतार्थ जानियेगा, तो क्या यह भी असत्य है कि भगवान परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दके अनुभवने वाले हैं ? यह असत्य तो नहीं है, लेकिन उस शुद्ध अन्तस्तत्वकी दृष्टिमें कर्तृत्व भोक्तृत्व है नहीं, फिर द्वैत करके जहाँ बताया तो अभूतार्थ है। इसलिए व्यवहारदृष्टिसे यह आत्मा भोक्ता है और निश्चयदृष्टिसे यह अभोक्ता है।

ज्ञानावस्था होनेपर कदाचित् जीवके भोक्तृत्वकी संभावनाविषयक जिज्ञासा—कल यह वर्णन चल रहा था कि यह चेतन निश्चयदृष्टिसे अभोक्ता है और व्यवहारदृष्टिसे कोई स्वभावपर्यायका भोक्ता है और कोई विभावपर्यायका भोक्ता है। इस प्रकरणसे सम्बन्धित एक यह प्रश्न उठता है कि यहाँ लोकमें आत्माकी दो पद्धतियां रहती हैं। कोई अज्ञान अवस्था-मय रहती है और कोई ज्ञान अवस्थामय रहती है। तो अज्ञान अवस्थामें विभावोंकी उत्पत्ति होती है, और विभावोंका वह अज्ञानी भोक्ता है। याने अज्ञानी रागद्वेषोंका कर्ता है और उसके फलमें दुःखोंका भोक्ता है। इसमें तो कोई संशयकी बात नहीं है, किन्तु ज्ञान हो जानेपर, सम्यक्त्व हो जानेपर फिर विभावोंकी उत्पत्ति होती है या नहीं और उनका भोगना होता है कि नहीं। उक्त प्रश्नके समाधानमें यह समझना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान होनेपर जब तक वीतराग दशा नहीं होती है तब तक जीवके विभाव उत्पन्न होते हैं। और विभावोंके होनेका ही नाम भवन है, उसीका नाम अनुभवन है, तो इस दृष्टिसे विभाव उत्पन्न होते हैं और विभावोंका भोगना होता है लेकिन वह सब अनभिप्रायपूर्वक है। वहां उपयोग लगाया नहीं है, जुड़ाया नहीं है, उसमें लगाव नहीं रखता। तो वीतराग दशा होनेपर अकर्ता है, अभोक्ता है, इसमें तो कोई सन्देह है ही नहीं, लेकिन सम्यग्ज्ञान होनेपर जब तक वीतराग दशा नहीं होती तब तक विभाव उत्पन्न होते हैं और विभाव उनपर गुजरते हैं। गुजरनेका ही नाम भोगना है, अनुभवना है, तो भी उन ज्ञानियोंको शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्रतीति है और उस प्रतीतिमें जो उन्होंने अनुपम आनन्दकी झलक पायी है, इन दो कारणोंसे वे अपना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

एकत्व शुद्ध आत्मामें जोड़ते हैं और इस कारणसे उन्हें भी विभावोंका कर्ता और भोक्ता नहीं कहा जाता है। तो साधारणतया यह नियत हुआ कि शुद्ध नयसे तो यह चेतन अभोक्ता है। जैसे कि अकर्ता है और व्यवहारदृष्टिसे यह अपनी पर्यायोंका भोक्ता है, जैसे कि पर्याय का कर्ता है, यों इस चतुर्थ जिज्ञासाका समाधान दिया गया है। यहां प्रासङ्गिक शिक्षा यह लेना कि उस भोक्तृत्वकी परिणतिको उपयोगमें न लेकर एक उस स्वभावको उपयोगमें लेना चाहिए। जो इसका शाश्वत सहजरूप है और उस ही में अपनेको अहंरूपसे अनुभवन करना चाहिए। जिस क्षण यह उपयोग अपने स्रोतभूत उस चैतन्यधातुमें मग्न हो जायगा उस क्षण इसमें भव-भवके कर्म झड़ जायेंगे और निकटकालमें इसको सर्वथा त्रिविध कर्मोंसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी।

आत्माके नियतत्व अनियतत्त्वविषयक पञ्चमी जिज्ञासा—अब ५ वीं जिज्ञासा जिज्ञासुकी आ रही है। इस जिज्ञासामें यह पूछा जा रहा है कि वह परमब्रह्म नियत है अथवा अनियत? नियत और अनियत, इस प्रश्न विकल्पके उठनेका कारण यह हुआ कि इस जिज्ञासुने लोकमें देखा कि ये जगतमें जितने पदार्थ हैं वे सब निरन्तर परिणमते रहते हैं। किसीकी शकल वही नहीं रहती है जो पहिले थी। सब अपनी-अपनी शकल बदलते रहते हैं। तो इससे यह प्रकट नजर आ रहा है कि पदार्थ कोई नियत नहीं, सभी पदार्थ अनियत हैं और इस दृष्टिमें लग रहा कि पदार्थ होता ही अनियत है। नियत मैं तत्त्व हूँ, यह बात यहाँ नहीं विदित होती। मिट्टी है, पत्थर बना, चूरा हुआ, सीमेन्ट बना। कुछ न कुछ बदलते ही जा रहे हैं। कोई एक चीज नहीं विदित होती और यहाँ चेतनमें भी पशु बने, पक्षी बने, मनुष्य बने, कीड़ामकोड़ा बने, जो जो भी बने वे बनते ही जा रहे हैं। यहां कुछ नियत नहीं दिख रहा है। ऐसा सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें अनियतपनेको देखकर जिज्ञासु के ऐसा विकल्प हुआ है कि क्या आत्मा अनियत है? और जब कभी ऐसी दृष्टि गई कि कुछ भी बदले, पर "है" तो वहीका वही है, "है" कुछ नहीं बदला। पत्थर बदला, सीमेन्ट बदला, कुछसे कुछ बदला, मगर "है" नहीं बदला। तो उस सत् ब्रह्मकी दृष्टिसे यहां कुछ बदल ही नहीं है। जैसे जो बुद्धिमान् परिवार जन होते हैं वे अपने घरकी कितनी ही लड़ाई कर लें, किन्तु जब परका मुकाबला होता है तो सब एक रहते हैं, तो वे लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि भले ही हममें परस्परमें लड़ाई चलती है मगर हमारेमें बिगाड़ कुछ नहीं होता, बाहरसे कोई बिगाड़की बात नहीं आ पाती। यहीं सब कुछ होता है, पर हम बाहरसे सब तरहसे सुरक्षित हैं, क्योंकि सबका एक विचार है। बाहरके संघर्ष हुए, तो एक हुए। तो ऐसे ही भले ही सारे अदल बदल चल रहे हैं मगर उस "है" की सीमामें अर्थात् अपनेसे बाहरके संघर्षके प्रसंगमें तो सभी पदार्थ अपने "है" पनेको नियत रखते हैं, उनका कुछ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बिगाड़ नहीं होता। हर समय वह है, तो यों देख रहे हैं कि यह सद् ब्रह्म नियत है, तो जब कभी नियत देखा, कभी अनियत देखा तो ऐसी दृष्टिमें यह विकल्प हो रहा है कि यह परमब्रह्म इसमें नियत है अथवा अनियत ?

आत्माका निश्चयदृष्टिसे नियतत्व व व्यवहारदृष्टिसे अनियतत्व—अब उक्त जिज्ञासा के समाधानमें कहते हैं कि इसका भी समाधान दो दृष्टियोंसे मिलेगा। निश्चयदृष्टिसे परखते हैं तो वह परमब्रह्म नियत है, जो है सो ही है, क्योंकि निश्चयदृष्टिसे अथवा शुद्ध नयसे वह शाश्वत अन्तस्तत्व निरखा गया है। देखिये विचित्रताकी बात कि जब यह जीव निगोद काठ आदिक संसारी दशाओंमें रहता है तो सारा बदल गया। ऐसा तो नहीं है कि उस आत्माके किसी हिस्सेमें तो पूरी शुद्ध बात पड़ी हुई हो और बाकी हिस्सा बदला है, कोई पशु बन गया तो ऐसा तो नहीं है कि उसके किसी हिस्सेमें तो परमात्मापन हो और बाकी हिस्सा पशु बना हुआ हो। जैसे कि कुछ लोगोंने कल्पना करली है कि किसी किसी अवतार में कोई हिस्सा परमात्माकी झलक रख रहा है और कोई हिस्सा सिंह, सूकर जैसे थूपड़ थापड़ बना है। ऐसा न हो करके वह समूचा आत्मा लो, जिस पर्यायमें है उस आकारमें है, वहांके भावमें है। जो भीतर कषायभाव जग रहा हो तो सारेमें कषायरूप हो रहा है, देखो दिख रहा है ऐसा कि वह पूरा बदल गया है, रहा क्या इसमें, लेकिन वस्तु सीमाकी महिमा इतनी अद्भुत है कि ऐसी स्थितिमें भावरूपसे पारिणामिक भावरूपसे वहाँ वह स्वरूप सहजतत्व अन्तःप्रकाशमान है। अरे अन्तःप्रकाशमान है तो कितना भीतर घुसकर देखें कि वह अंतस्तत्व नजरमें आ जायगा। इतने बड़े हाथीका जीव इतने बड़े जीवमें कौन-सी जगह भीतरमें है ? पेटके ठीक बीचमें या मस्तकके ठीक बीचमें ? कौनसी जगह वह अंतस्तत्व, परमात्मतत्त्व मौजूद है ? क्योंकि कह रहे ना कि अन्तःप्रकाशमान है, बाहरमें नहीं है। अरे वह अन्तः क्षेत्रकृत अन्तः नहीं है कि उसे क्षेत्रके रूपसे भीतर परखा जाय कि लो यह है परमात्मा। वह तो है ही सब प्रदेशोंमें भावरूपसे, स्वभावरूपसे। वह कैसा भाव है कैसा स्वभाव है सो वचनके अगोचर है, सर्वत्र अन्तःप्रकाशमान है। सर्व प्रदेशोंमें बाह्यमें भी अन्तः पड़ा है, अन्तः में भी अन्तः पड़ा है, क्योंकि वह अन्तः भावात्मक चीज है। जब उस अन्तस्तत्वको निरखते हैं निश्चयदृष्टिमें तो वहाँ नियत विदित होता है कि यह तो अपने चित्स्वभावमें नियत है और जब पर्यायदृष्टिसे निरखने चलते हैं तो पर्यायें सब अनियत दिख रही हैं। कभी कुछ होता, कभी कुछ। अरे और तो जाने दो, जहाँ शुद्ध अवस्था प्रकट हो गई है ऐसी उस शुद्ध दशामें भी प्रति क्षण नवीन-नवीन पर्यायें होती हैं। पर वे पर्यायें परिणमनरूप नहीं हैं अर्थात् बदलरूप नहीं हैं, किन्तु भवनरूप हैं। जैसा हुआ था वैसा ही अब हो रहा है। निरन्तर प्रकाशमान है, निरन्तर चल रहा है तो व्यवहारदृष्टिसे यह आत्मा अनियत है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नियत आत्मतत्त्वकी आलम्ब्यता—अब ऐसे नियत अनियतके विवेचनमें हमको किस ओर अभिमुख होना है ? नियतकी ओर अभिमुख होना है। देखो नियतकी ओर अभिमुख होना भी एक अनियत दशा है, क्योंकि पर्यायरूप है तो उस अनियतके द्वारा नियतका लाभ लेना यह अर्थ हुआ। हम जब अरहंत सिद्ध प्रभुके शुद्ध गुणोंको निरखते हैं तो वहाँ भी हमने उस अनियत स्वभाव पर्यायको देखा। अनियतका अर्थ यहाँ यह न लेना कि जैसे संसार अवस्थामें विषम परिणमन होता है कभी कुछ बना, कभी कुछ, ऐसा यहाँ नहीं ले रहे हैं। किन्तु अनियतका अर्थ है पर्याय, जो प्रतिक्षण हो रहे, अब हुआ, फिर और हुआ, ऐसा वह स्वभावपरिणमन उसकी भक्ति करना है। लेकिन जो मर्मज्ञ पुरुष हैं वे उस भक्तिके निकट पहुंचकर उस परमभक्तिमें पहुंच जाते हैं; शाश्वत, चित्स्वभावरूप अन्तस्तत्वकी भक्तिमें पहुंच होती है। उनका दृढ़ निर्णय है कि यह जो उनका स्वाभाविक वर्तन है वह स्वभावके अनुरूप है, वहां स्वभाव छिपा हुआ नहीं है, व्यक्त है। जब कि यहां संसार अवस्थामें स्वभाव गुप्त है, वहां प्रकट है। प्रकट होकर भी ज्ञानियोंको प्रकट है, अज्ञानियों को नहीं। तो ऐसे शुद्ध पूज्य अनियत पर्यायोंकी भक्ति भी उस एक नियत स्वभावकी भक्तिके लिए हुआ करती है। एक कौनसा ऐसा सहारा है कि जिस सहारेसे हम निर्भय हो जायें ? वह सहारा है इस नियत शुद्ध चित्स्वभावके आलम्बनका।

आत्माके स्वज्ञातृत्व परज्ञातृत्वविषयक षष्ठी जिज्ञासा--अब छठवीं जिज्ञासामें यह पूछा जा रहा है कि यह आत्मा स्वका ज्ञाता है या परका ज्ञाता है ? ऐसे विकल्पके होनेका कारण यह है कि लोकमें ऐसा व्यवहार सुना जाता है, हमने उसको जाना, परको जाना, हमने बाहरकी चीजोंको जाना और यह ख्याल तो पहिलेसे ही बना हुआ है और अनुभवसे भी जानने वाले यह कह देते हैं कि मैं परको जाननेवाला हूं। स्वको रीता करके याने यहां कुछ भी जानत्ता रूपसे अपनेको भला न निरखकर उसे पर जाना जा रहा है, यही दृष्ट होता है, जो जान रहा है सो यह जानत्तासे भरा पूरा है, इसकी सुध भी नहीं है, इसको समझा ही नहीं है, किन्तु एकदम बाह्य की ओर दृष्टि है। मैं इसको जानता हूं, परको जानता हूं, मैं इतनी बड़ी वैज्ञानिक विधियोंको जानता हूं, इतने रसायनोंको जानता हूं, इतने आविष्कारोंका काम कर लेता हूं, ऐसा सोचते हुएमें यह स्वसे बिल्कुल अपरिचित रहता। स्वकी ओर तो रंच भी सुध नहीं है। जैसे कोई पुरुष कमरेमें बैठा हुआ है और बड़ी तेज बारिश आ गई। और बाहरमें मानलो उसकी कचरियां पड़ी हुई सूख रही थीं, या मंदिरमें पूजन करने जानेकी धोती पड़ी हुई थी तो उस चीजका लुब्धक उसको उठानेके लिए बड़े बेगसे दौड़ता है, इसलिए कि कहीं वह भीग न जाय, तो उस बेगसे दौड़ते समय उसके पैरमें या सिरमें कोई चीज लग जाय, खून भी आ जाय, पर उसका उस समय भान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

तक नहीं होता है। क्यों भान नहीं होता है? इसलिए कि उसकी दृष्टि उस बाहर रखी हुई चीजपर है। ठीक इसी प्रकार समझिये कि जब यह उपयोग परकी ओर अभिमुख होता है तो वहाँ सब बाहर ही नजर आ रहा है, भीतरका कुछ भी नजर नहीं आता। ऐसी स्थितियाँ प्रायः सब जीवोंके देखी जा रही हैं। उससे यह निर्णय होता है कि यह तो परका ज्ञाता है। स्वका ज्ञाता भी कोई हुआ करता है इसकी सुध नहीं है, और यह बात केवल लौकिक जनोंकी नहीं कह रहे, दार्शनिक लोग भी ऐसे दर्शन बनाकर इसीको पुष्ट करते हैं। जैसे कहते कि ज्ञान अस्वसम्वेदी है, खुदको जानता ही नहीं, स्वसम्वेदन हुआ ही नहीं करता है। जो जाना जायगा सो परके द्वारा जाना जायगा। जैसे बाहरमें इस भींतको जाना है तो ज्ञानने भींतको जाना है और जिस ज्ञानने भींतको जाना है उस ज्ञानको अगर हमें जानना पड़ेगा तो दूसरे ज्ञानसे जानना पड़ेगा। और जब उस ज्ञानको भी जानना होगा, जो तीसरे ज्ञानसे जानना पड़ेगा। ज्ञानोंमें यह कला नहीं है कि खुदका भी प्रकाश रखता हो, खुदको भी समझता हो, तब उस दर्शनसे भी यह सिद्ध होता है कि ज्ञान परका ज्ञाता हुआ करता है। ज्ञान अथवा आत्मा। यों यह विकल्प जगा है कि आत्मा क्या परका ज्ञाता है? दूसरा विकल्प यों जगा है कि ज्ञानियोंसे यह सुनते आये हैं कि यह जीव जो कुछ करता है वह अपना करता है और ज्ञानियोंसे ही क्या सुनते, लोग भी कहते हैं कि जो करेगा वह अपना करेगा। कोई किसीके प्रति कषाय रख रहा है तो लोग कहते कि यह कषाय कर रहा है तो अपना ही बिगाड़ करेगा। और यह बात प्रसिद्ध भी हो रही है, जो करेगा सो अपना करेगा, खुद करेगा, खुद भरेगा। ऐसा लोकमें भी प्रसिद्ध है। तो जैसा करेगा वैसा भरेगा की बात है ऐसे ही जानेगा, परखेगा की बात है। अपनेको जानेगा, अपनेको परखेगा, दूसरेको क्या जान पाये? एक हिसाब मात्र लगाकर कि जब वहाँ करेगा भरेगा अपनेको तो यह जानेगा, परखेगा अपनेको। तू इसी विकल्पमें घुल मिल गया और हिसाब भी बैठ गया। इस तरह क्या आत्मा स्वको ही जाननेवाला है? ऐसे दो प्रश्न विकल्प हुए हैं।

निश्चयदृष्टिसे आत्माका स्वज्ञातृत्व—उक्त जिज्ञासाके समाधानमें सुनो—यहाँ भी दो दृष्टियोंसे समाधान करते हैं और दो दृष्टियोंका समाधान करके फिर एक परमार्थ दृष्टि से भी परखनेकी बात कहेंगे। निश्चयदृष्टिसे आत्मा स्वका ज्ञाता है और व्यवहारदृष्टिसे आत्मा परका ज्ञाता है। निश्चयदृष्टिका भाव यह है कि खुदकी बात खुदमें परखना—जब यह आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न है और वे सब अनन्त गुण आत्माके प्रदेशमें ही हैं क्योंकि प्रदेश भी क्या चीज है? उन अनन्त गुणोंका जो समूह है वही प्रदेशका रूप अंगीकार करता है। कहीं आत्मामें ऐसा नहीं है कि आत्मामें जगह बनी भई है फिर उसमें गुण भरे

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं या आनन्द व ज्ञान भरा है। कोई ऐसा इसमें द्वैत नहीं है किन्तु अनन्त गुणात्मक जो आत्मा है वही सर्वप्रदेशरूप कहलाता है। तो इसमें भी यह बात सिद्ध हुई कि वे गुण प्रदेश-मय ही हैं और वे गुण जब प्रदेशसे बाहर नहीं हैं तो उन गुणोंकी जो परिणति होगी वह क्या प्रदेशसे बाहर चली जायगी ? कभी नहीं जा सकती। वस्तुकी सीमा ऐसी है कि वस्तु का परिणमन कुछ भी वस्तुके बाहर हो ही नहीं सकता। लोग जो व्यवहारमें परखते हैं अमुकने अमुकको यों किया, वह केवल एक उपचारदृष्टिसे परखते हैं। वस्तुतः कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कुछ करनेवाला नहीं होता। परिणति ही बाहर नहीं जा सकती। लो जब जीवने मोह किया तो वह मोह परिणमन आत्माके प्रदेशोंसे बाहर भग ही नहीं सकते। तो वह मोह परिणमन किसको मोहेगा ? आत्माको। बाहर न मोहेगा। इस "मुहेगा" शब्दको द्वैतपद्धतिमें यह कह लीजिए कि मोह करेगा। तो बाहर मोह न करेगा। बाहरकी चीजमें मोह न करेगा, किन्तु यह आत्मा अपने आपमें ही मोह परिणमन करता है, अपने को ही मोहता है। तो ऐसी मोह जैसी बाहरी बातोंका भी असर तब दूसरी जगह नहीं पड़ा, जब ऐसी मुँहकी क्रियाका कर्म दूसरा न बन सका, तो ज्ञान जैसी सूक्ष्म पवित्र प्रतिभासात्मक चीजका असर बाहर कहां पड़ेगा ? जो जानता है सो अपनेको जानता है। अपनेसे बाहर जाननेकी परिणति नहीं होती, तब निश्चयदृष्टिसे निरखने पर यह विदित होता कि जीव स्वका ज्ञाता है।

व्यवहारदृष्टिसे परज्ञातृत्व— अब पर्यायदृष्टिसे परखिये—यहाँ नजर आयगा कि यह परका ज्ञाता है। यह सब स्पष्ट समझमें आ रहा। देखो—यहाँसे ८ मीलकी दूरीका पहाड़ स्पष्ट नजर आ रहा है। तो बताओ हमने कहाँ जाना ? हमने ८ मील दूरपर जाना, इतनी दूरकी चीज जान रहे हैं तो यह परका जानना नहीं है क्या ? हम जो जानते हैं कि यह पहाड़ है, यह टोंक है, क्या यह झूठ बात है ? झूठ तो नहीं है। तो यह परका ज्ञाता हुआ कि नहीं ? हुआ ज्ञाता। पर अन्तः यह निरखिये कि यह जाननहार ज्ञान उस परमें तन्मय होकर जान रहा है या स्वमें तन्मय होकर जान रहा है ? इसी तन्मयताके आधार से निश्चय और व्यवहारका रहस्य समझमें आता है। दूर रहनेवाले पर्वत भी जान रहे हैं, फिर भी वह तन्मयता पर्वतमें नहीं बन रही है, वह ज्ञान तो निजमें तन्मयतासे होता रहता है और यहाँ यह समझा जा रहा है कि वह पहाड़ है, तो यों व्यवहारदृष्टिसे यह आत्मा परका ज्ञाता है।

परमार्थदृष्टिमें ज्ञातृत्वविकल्पका विलय— अब परमार्थ दृष्टिमें उतरिये तो विदित होगा कि जानना तो क्रिया है। जानना क्या चीज है ? अरे आत्मा चेतन है और होता है। अपनेको जाना, परको जाना, यह बात वहां कहां पड़ी हुई है ? वह तो चित्स्वरूप

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है और चिद्विलासरूप है। तो हम परमार्थ दृष्टिमें इस परमपारिणामिक भावकी नजरमें तो न तो स्वका ज्ञातृत्वका द्वैत बना है, न परके ज्ञातृत्वका द्वैत बना है, वहां जो मात्र चित्स्वभाव है, वह तो जो है सो है। तो इस विवेचनसे हमें यह शिक्षा लेना है कि हम इतने बाह्य पदार्थोंको जान रहे हैं सो तन्मयतासे नहीं जान रहे, यह तो केवल विषयभूत हो रहे, वह ज्ञानकला इन पदार्थोंमें नहीं बसी है, न इन्द्रियमें वह कला है। भीतर यह आत्मा स्वयं अपनी उस तन्मयतासे सब कुछ जान रहा है। और ज्यों ही इस आत्माके अन्तःप्रकाशमान सहज चित्स्वभावपर दृष्टि जाती है तो यह विकल्पोंकी सभा सब बरखास्त हो जाती है और अपने आपमें उस आत्मतत्त्वका दर्शन करके तृप्ति होती है, उसके दर्शनका हमें यत्न और ध्यान रहना चाहिए।

आत्माके एकत्व व विभिन्नत्वविषयक सप्तमी जिज्ञासा—अब ७ वीं जिज्ञासामें यह जानने की इच्छा हो रही है कि आत्मा एक है अथवा भिन्न-भिन्न है। इस प्रश्नका भाव यह है कि लोकमें कहते हैं कि आत्मा एक है और कुछ समझमें आ रहा है ऐसा कि यह आत्मा अनेक है। इतने मनुष्य हैं, पशु, पक्षी हैं, अनेक जीव दिख रहे हैं, यों आत्मा ऐसी द्विविधा देखकर यह जिज्ञासा हुई कि आत्मा एक है कि भिन्न-भिन्न। तो आत्मा एक किस प्रकार है ? वह तो एक चैतन्यस्वरूपमात्रकी दृष्टिसे कहा जा सकता है, सो एक ही क्या कहना ? वह एकके विकल्पसे भी रहित है और अनेक आत्मा हैं, भिन्न-भिन्न आत्मा हैं, यह बात विदित प्रत्यक्ष हो ही रही है कि सब जीवोंका परिणमन अपने आपमें जुदा-जुदा है। अर्थात् जितने ये परिणमनेवाले स्वयं हैं वे सब जुदे-जुदे आत्मा हैं। अब यहाँ जानना यह है कि किसी भी एक आत्माको ले लीजिए, वह भी एक ही है या भिन्न-भिन्न अनेक है ? तो इसका भी उत्तर दो दृष्टियोंसे आता है। निश्चयदृष्टिसे तो आत्मा एक है और व्यवहारदृष्टिसे आत्मा भिन्न-भिन्न है।

निश्चयदृष्टिसे आत्माके एकत्वकी प्रसिद्धि—निश्चयदृष्टिसे तो निरखा गया उस एक द्रव्य आत्माको जो स्वयंसिद्ध है, अनादि अनन्त है, ऐसा वह आत्मा एक है। जैसे कि अपने आपके बारेमें भी घटित होता है कि मैं एक हूँ। जब बच्चे थे तब भी वही, बालक बना तब भी वही। जवान हुआ तब भी वही, वृद्ध हो रहे तब भी वही। सर्वत्र वही मैं एक आत्मा हूँ। अनुभव भी बतलाता है और व्यवहार भी बतलाता है। दूसरे यह जीव है, यह वही जीव है इसका परिचय बना हुआ है सो इसमें व्यवहार भी चल रहा है तो यह सब एक है। यदि इस तरहका एक न माना जाय तो न व्यवहार ही बन सकता है और न कोई परमार्थ व्यवस्था ही बनायी जा सकती है। एक है यह जीव तब

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ही तो व्यापार, लेन देन ये सब चल रहे हैं। जैसे किसीने किसीको मानो दो वर्ष पहिले रुपया उधार दिया और आज वह अपने रुपये माँगे और वह कर्ज लेनेवाला अगर कह बैठे कि जिसको तुमने रुपये दिया वह आत्मा तो कोई दूसरा ही था। आत्मा तो क्षण-क्षण में नया-नया भिन्न-भिन्न होता है। सो जिसको दिया हो उससे माँगो। तो यों व्यवहार भी सब समाप्त हो जायगा। और इसके उत्तरमें इसको भी मुँहकी खानी पड़ेगी। तो निश्चय-दृष्टिसे आत्मा एक है, ऐसा स्वीकार किए बिना व्यवहारमें भी विरोध पड़ेगा और परमार्थ मार्गमें भी विरोध पड़ेगा। हम धर्ममार्गमें क्यों चलें? तप, त्याग आदिके मार्गमें क्यों चलें? मैं तो नष्ट हो जाऊँगा। दूसरा कोई भिन्न आत्मा आयगा, उसे मोक्ष मिलेगा। तो मुझे फिर क्या जरूरत पड़ी कि मैं क्लेश सहूँ, और व्यर्थमें तपश्चरण करूँ। यों पर-मार्थमार्गकी भी व्यवस्था नहीं बनती। मैं एक हूँ और इसी बातमें एक परम शुद्ध निश्चय-नयसे देखा जाता है तो वह है एक अद्वैत केवल मैं एक चित्प्रतिभासमात्र हूं। तो निश्चयनय से मैं एक हूँ।

व्यवहारनयसे आत्माके विभिन्नत्वकी सिद्धि—व्यवहारदृष्टिसे मैं भिन्न-भिन्न हूँ। क्योंकि क्षण-क्षणमें जो नवीन-नवीन पर्यायें चलती हैं वे पर्यायें पहिली पर्यायोंसे भिन्न हैं, और उन पर्यायोंको, उन अवस्था रूपोंको ही एक दृष्टिमें लेने पर, वह न पहिले था और न आगे रहेगा, ऐसी पर्यायकी दृष्टि होनेपर यह भिन्न-भिन्न हो गया। जैसे मनुष्य देव आदिक ये भिन्न भिन्न जीव हो गए। पर्यायदृष्टिकी यह भिन्नता न माननेपर भी अनेक अड़चनें आयेंगी। जो बालक की प्रकृति है और बालकमें जैसा विश्वास रहता है, स्त्री, मकान, बच्चों आदिके प्रति जो विश्वास रहता है, जवान होने पर तो उस प्रकारका विश्वास नहीं रहता। तो परमार्थ व्यवहारकी भिन्नता न मानने पर यहाँ व्यवहारमें भी अड़चनें आयेंगी और परमार्थमें भी अड़चनें आयेंगी। यदि व्यवहारदृष्टिसे पर्यायभेद नहीं है, भिन्नता नहीं है, एक ही रूप है तो अब उसका क्या करना? तपश्चरण क्यों करना, मोक्ष भी क्या मानना? अज्ञानअवस्था तभी तक है जब तक ज्ञान अवस्था नहीं आती अथवा अवस्था ही कुछ नहीं, कोई भिन्न प्रभाव वाली बात ही नहीं, तब फिर परमार्थ मार्ग भी किस लिए है? तो परमार्थदृष्टिसे जीव निराला है, यह भी बात यथार्थ है और दोनों दृष्टियोंको जिसने पहिचाना है उससे ही तो धर्ममार्ग बनता है।

आत्माके एकत्व व विभिन्नत्वके परिचयीका आत्महितमें निर्णीत कर्तव्य—अब यहाँ अपने हितके लिए परखना यह है कि बातें दोनों सत्य बतायी गई हैं कि निश्चयदृष्टिसे आत्मा अनादि अनन्त एक वही है और पर्यायदृष्टिसे आत्माके ये पर्यायभेद हैं, नाना अवस्थायें हैं, इन दोनोंको जानकर हमको करना क्या है? करनेकी बात यह है कि निश्चयदृष्टिसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परखा गया और परमशुद्ध निश्चयनयसे, शुद्धनयसे परखा गया जो शुद्ध अन्तस्तत्त्व है, जो कि शाश्वत एकरूप है उसका ही आलम्बन लेना है, लेकिन आलम्बन लेनेवाला जो भाव है वह भाव पर्यायरूप है, वह प्रतिक्षणवर्ती होने से अनेक है, लेकिन इसही पर्यायबलसे हम को उस एक अखण्ड आत्मद्रव्यका आश्रय लेना है। भिन्नता और अभिन्नता जान करके हमको यह शिक्षा लेना है। हम अपने आपमें एकत्वकी भीतरी खोज करके हमको उसका आलम्बन लेना है और इसीलिए यह सब भेदका परिज्ञान किया जाता है। यों यह आत्मा निश्चयदृष्टिसे तो केवल है और व्यवहारदृष्टिसे भिन्न-भिन्न है। स्याद्वाद पद्धतिसे आत्माके विषयमें ऐसे धर्मोंको न जानकर एकान्त मानकर अनेक दार्शनिकोंने अपने मंतव्य गढ़े। यद्यपि उन मंतव्योंमें कोई दृष्टि थी उनकी, जैसे कि अभी १४ वें परिच्छेदमें कुछ प्रकरण आया था, किन्तु किसी भी एकान्तदृष्टि रखते हुएमें एक तो ज्ञानप्रकाश नहीं मिलता और उस अज्ञान अंधेरेमें वास्तविक रूपसे कल्याण नहीं बन पाता। अतः स्याद्वाद विधिसे तत्त्वनिर्णय करना चाहिए और उसमें जो उपादेय तत्त्व है उसका आश्रय करना चाहिए।

जीवके कार्यत्वविषयक मिथ्याशयी जनोंका आठवीं जिज्ञासामें प्रथम प्रश्न विकल्प—अब ८ वीं जिज्ञासामें यह जानना है कि यह आत्मा कार्य है या कारण ? इस प्रश्न विकल्प के सम्बन्धमें भी चूंकि अनेक पुरुषोंकी अनेक धारणायें होती हैं तो उनके अनुसार ऐसा विकल्प हो जानेकी बात सम्भव है यह समझना चाहिए। आत्मा कार्य है ऐसे विकल्प कर ने वाले अनेक लौकिक जन हैं। बिना बनाये क्या होता है ? जो कुछ है वह बनानेसे बनता है ऐसी आम लोगोंकी धारणा है और उस धारणाका पोषण किया है हमारे लौकिक बर्ताव ने। हम चीजें बनाते हैं तब बनती हैं। जो उत्पादन है वह किए हुएसे ही तो बना हुआ है और घरमें रसोईमें रोटियाँ आदिक बनानेका का कार्य रोज किया ही करते हैं। और यहाँ देखनेमें भी आता कि कुम्हारने घड़ा बनाया, जुलाहेने कपड़ा बनाया आदि। तो इन सब बातोंकी परखसे लोगोंकी एक आम धारणा बन गई कि जगतमें जो कुछ भी चीज है वह किसी न किसीके द्वारा बनाई गई है। अब प्रकरण लीजिए आत्माका। जगतमें ये इतने जीव हैं, इन जीवोंको किसने बनाया ? यह जीव किसी न किसीके द्वारा बनाया हुआ तो होना ही चाहिए, क्योंकि ये भी चीजें हैं पर इनका बना सकनेवाला यहाँ लोकमें कुछ भी नजर नहीं आता। कौन बना दे ? तो सोचा गया कि कोई अलौकिक शक्ति ईश्वर है ऐसा जो कि इन सब जीवोंको रचता है और ऐसी अनेक किम्बदन्ती भी इसी आशयके आधार पर घढ़ डाली, बना डाली।

जीवोंके कार्यत्वविषयक एक किंवदन्ती—एक किम्वदन्ती ऐसी प्रचलित है कि ब्रह्मा ने सबसे पहिले ५ जीवोंको बनाया और बनाया किस ढंगसे ? जैसे कि लोग यहाँ दिखते

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं कि बच्चा जब पैदा होता है तो गर्भमें आता है तो इसी तरह ब्रह्माके गर्भमें ५ जीव बैठे थे। एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय, एक वैश्य, एक शूद्र और एक स्त्री। तो जब वे कुछ बड़े होने लगे तो उनके पेटमें दर्द पैदा होने लगा तो ब्रह्माने कहा कि ब्राह्मणजी तुम निकलो पेटसे ? तो वह बोला कि हम तो तुम्हारे पेटमें बड़ा मौज पा रहे हैं, हम तो नहीं निकलते, हमें बाहरका आराम बताओ तब निकलेंगे। अच्छा तुम्हारा काम है कि इस जगतमें देवता जैसे पूजते रहना। सब लो तुम्हें दान दक्षिणा देंगे और तुम खूब मौजसे रहना। सो इस तरह ब्राह्मण निकले। जब क्षत्रियसे निकलनेको कहा तो उसने भी कहा कि हमें मौजका काम बताओ तब निकलेंगे, नहीं तो यहीं रहने दो। यहाँ बड़ा मौज है। अरे जावो पृथ्वी पर राज्य करना, सब पर शासन करना। इस तरह क्षत्रिय भी निकला। जब वैश्यसे निकलनेको कहा तो उसने भी कहा मुझे मौजका काम बताओ। अरे जावो व्यापारादिके कार्य करना, सारी दुनिया की सब चीजें तुम्हारे हाथमें रहेंगी। सबको आवश्यकतानुसार उपयोगी वस्तुवें देना और आप मौजमें रहना। इसी तरह शूद्रसे कहा जावो तुम किसीकी जरा सेवा कर देनां, बस मौजसे रहोगे, तुमको कोई चिन्ता फिकर रहेगी नहीं। इस तरह कहकर शूद्रको भी अपने पेटसे निकाला। अब रह गई स्त्री। कहा, ऐ स्त्री निकल पेटसे। हम तो नहीं निकलती। हमें तो यहाँ बड़ा मौज है। अरे तुम्हारे वश ये चारों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रहेंगे। बस तुम इनको अनेक प्रकारके नाच नचाना और मौजसे रहना। इस तरह स्त्री भी उस ब्रह्माके पेटसे निकली। तो उनकी इस किम्बदन्ती ने लोगों की ऐसी धारणा बनानेका पोषण किया कि तो आम लोगोंकी धारणाके अनुसार यह बात प्रसिद्ध हो रही कि किसीने इस जीवको बनाया है ? तो यह प्रश्न विकल्प चल रहा है कि क्या आत्मा कार्य है, क्या किसीके द्वारा बनाया गया है ?

आठवीं जिज्ञासामें जीवके कारणत्वविषयक द्वितीय प्रश्न विकल्प——अब द्वितीय प्रश्न विकल्प सुनिये कि क्या आत्मा कारण है ? इस सम्बन्धमें भी लोग यह धारणा लिए हैं कि जो मैं करता हूं सो होता है। आत्माके बिना कुछ हो तो ले। बड़ा यंत्र बना दिया, लेकिन एक इस जीवके बिना वह यंत्र चल तो जाय। भले हो ओटोमेटिक यंत्र तैयार हैं, फिर भी भी बिना बटन दबाये तो नहीं चल सकते। भले ही अपने आप यंत्र द्वारा कपड़े तैयार होते, उनकी घरी भी होती, वे ठीक ठीक रखते भी जाते, फिर भी मूलमें जब तक उन यंत्रोंको चलाने के लिए कोई बटन नहीं दबायेगा तब तक यंत्र नहीं चल सकता। इससे लोगोंने यह प्रसिद्ध किया कि आत्माके किये बिना कुछ नहीं होता। यह आत्मा सबका कारण है। ऐसे कुछ सन्देहोंमें यह जिज्ञासा बन रही है कि आत्मा क्या कारण है ? कारण कुछ कह लीजिये या कर्ता, दोनोंका एकही आशय है। यहाँ पर इस प्रकार जिज्ञासामें द्वितीय प्रश्न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विकल्प हुआ।

निश्चय व व्यवहारनयसे आत्माके कार्यत्व व कारणत्वविषयक जिज्ञासाका समाधान– उक्त जिज्ञासाका समाधान भी दो दृष्टियोंसे होगा। एक शुद्धनय और दूसरा व्यवहारनय। शुद्धनय तो उस अनादि अनन्त सहज सिद्ध चैतन्यस्वरूपको ग्रहण करता है। शुद्धनयकी दृष्टि में आत्मा न कार्य है, न कारण है, क्योंकि इस दृष्टिमें तो केवल एक चित्प्रतिभास मात्र ही अनुभव हो रहा है। वहां कार्य कारणका भेद नहीं है। व्यवहारनयमें जब आते हैं तब कार्य-कारणविषयक भेद दृष्टिगत होता है। तब वहाँ एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कार्य व कारण है, यह बात तो घटित होती नहीं। इसका कारण यह है कि कोई भी पदार्थ उपादानतया किसी भी अन्य पदार्थका न कार्य बनता, न कारण बनता, क्योंकि सभी पदार्थ अपने ही उत्पादव्ययध्रौव्यको लिए हुए चल रहे हैं। तो किसी पदार्थके द्वारा कोई भी पदार्थ किया जाय ऐसी व्यवस्था नहीं है। तब अपने आपके आत्मामें ही सोचना होगा कि मैं ही आत्मा अपने आपका करण बनता हूं और मैं ही अपने आपका कार्य बनता हूं। तो इस व्यवहार-नयसे परखनेपर यह ज्ञात होता है कि पूर्वपर्यायसंयुक्त यह मैं उत्तरपर्याय संयुक्त इस मैं का करण बनता हूं। अर्थात् पूर्वपर्याय सहित द्रव्य उत्तरपर्यायका कारण होता है, और वह उत्तरपर्याय इस पूर्वपर्यायसहित द्रव्यका कार्य होता है। पदार्थ है और वह निरन्तर है तथा प्रतिक्षण निरन्तर उसका परिणमन चला करता है। तब भी परिणमनकी धारा, वह संतति जो अनवछिन्न चल रही है वह इसी पद्धतिसे ही तो चल रही है कि जिस किसी भी पर्याय का आधारभूत, वर्तमान प्रादुर्भूतिका आधारभूत वह पूर्वपर्यायसहित द्रव्य है। यद्यपि वह पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायके सम्बन्धमें नहीं है, लेकिन उत्तरपर्यायके सम्बन्धमें वह द्रव्य तो है ना, और वह द्रव्य स्वयं पूर्वपर्यायकी विलीनतारूप है, तब ही वह उत्तरपर्याय हुई है। उत्तरपर्यायका होना पूर्वपर्यायका विलीन होना, इनका भिन्न-भिन्न समय नहीं है, और ऐसी स्थितिमें यही तो विदित होगा कि पूर्वपर्यायसहित वह द्रव्य इस उत्तरपर्यायका कारण है और यों ही लचड़ कारण नहीं, वह डटकर कारण है। वहाँ पूर्वपर्यायकी विलीनता और उत्तरपर्यायकी प्रादुर्भूति ये अनर्थान्तर हैं। इस रूप भी यह पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य विशिष्ट करके प्रतीत होता है। इसी तरह कार्यकी बात समझना चाहिये। उत्तरपर्याय कार्य बनती है। यों व्यवहारदृष्टिसे आत्मा कार्य भी है और कारण भी है।

यथार्थ कार्यकारणभाव न जानने से विपत्ति व विडम्बना—उक्त विधिसे कार्य कारणपनेका मर्म न जानकर लोगों को, लौकिक जनोंको कितनी ही किम्वदन्तियाँ बनानी पड़ीं और उन सब किम्वदन्तियोंमें यह सिरताज बन रही है कि सब जीवोंको करनेवाला कोई एक ईश्वर है। उन्होंने यह नहीं समझा कि विदित जीव यह भी एक पर्यायदृष्टिसे है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अर्थात् बहिरात्मत्वकी दृष्टि अथवा व्यवहारमें यह बोलने चालने वाला, चलने फिरने वाला जो यह जीव है उसका नाम रखा जीव, और इसका कारण कौन बना ? इस जीवका आधारभूत जो वह एक चैतन्यभाव है वह आधार बना तो वही एक चित् शुद्ध अन्तस्तत्त्व ईश्वर है। जिसकी बुनियादपर यह सब सृष्टि बन रही है। ऐसी-ऐसी सभी सृष्टियां चल रही हैं। कोई जीव किसी दूसरे जीवका कर्ता, हर्ता, बिगाड़ करने वाला, संभाल करने वाला नहीं है। यह अज्ञान छाया है जो चित्तमें विकल्प आया है कि मैंने इसे उत्पन्न किया है, पाला है, तथा मैं इसका सुधार कर दूंगा, मैं इसका बिगाड़ कर दूँगा। यह एक विकल्प है और इसे बताया गया है मिथ्या अध्यवसान अर्थात् अर्थक्रिया न करने वाला अध्यवसान। विकल्पमें जो सोचा है वह बात हो ही जाय, ऐसा अविनाभाव सम्बन्ध तो नहीं है। विकल्पमें एक चिन्तन कर लिया कि अमुक पुत्र इस तरहसे ही चला करे, इस तरहका ही व्यवहार रखे, ऐसा पढ़ा करे, कुछ भी सोच लिया, लेकिन इस विकल्पके करनेसे क्या उस पुत्रने कुछ चेष्टा कर दी, अगर वह करेगा चेष्टा तो अपने विकल्पके कारण अपने आपमें यत्न करेगा, इस पिताके विकल्पके कारण न करेगा। कितना भिन्न हैं प्रत्येक जीव परस्परमें कि उनका कोई सम्बन्ध नहीं बनता और यहाँ निरखिये तो जीवका अजीवके साथ तो सम्बन्ध कुछ व्यवहारतः बन भी जायगा। किसी भी प्रकारका सम्बन्ध सही एक क्षेत्रावगाह हो गए, एक साथ बँधे हुए हैं और जब शरीर, मन, वचनमें योग होता है, आत्माका योग होता है, जब आत्मामें योग होता है तो मन, वचन, कायमें परिस्पंद होता है। देखो—कितना निकट सम्बन्ध बन रहा है। तो जीवका अजीवके साथ तो निमित्त-नैमित्तिक, सम्पर्क, एकक्षेत्रावगाह आदि व्यावहारिक सम्बन्ध बन जायगा, पर जीवका जीव के साथ सम्बन्ध किसी भी प्रकार नहीं बनता। न उनका संघात होगा, न उनके समान-जातीय कोई पर्याय बनेगी और न वहाँ यह भी अविनाभाव देखा जायगा कि हमने ऐसा सोचा तो वह भी ऐसा सोच बैठे। यहाँ मन, वचन, कायके योग होनेपर आत्माके योग होना, आत्माकी क्रिया होनेपर मन वचन कायका योग होना आदिकी परस्पर सहयोग है। अन्य जीवके साथ तो रंच भी सहयोग नहीं है। फिर भी उनके ही प्रति विकल्प करके यह जीव बरबाद हो रहा है। अजीव तत्त्वके प्रति विकल्प करके कोई नष्ट नहीं हो रहा। यह सोचना कि यह आदमी धनके पीछे बुरी तरह पड़ रहा है। आज करोड़का धन पासमें है तो वह अरबपति, खरबपति आदि बननेकी वाञ्छा करता है। उसकी ये वाञ्छायें किसलिए चलती हैं ? बस इसीलिए कि मैं इतने लोगोंमें सिरताज कहलाऊँ। कहीं इसलिए नहीं धन वैभवके पीछे होड़ मचा रहे कि बच्चोंका गुजारा चलाना है। तो उनके मनमें अपनी प्रतिष्ठा की चाह अन्दरसे बैठी हुई है जो कि उनकी बरबादीका कारण बन रही है। देखिये—एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवका दूसरे जीवके साथ सम्बन्ध रंच भी नहीं है। पर एक दूसरेको आश्रयभूत बनाकर दुःखी हो रहे हैं।

व्यवहारतः उपादानोपादेय रूपसे स्वयंमें कार्यकारणभाव, किन्तु शुद्धनयतः कार्यकारणभावका अभाव—यह जीव किसी भी बाह्य पदार्थका कर्ता नहीं है, अपने आपमें ही किसी पर्यायका कारण बनता है और किसीका कार्य बनता है। अपना अर्थात् पर्यायका कारण बन रहा है और पूर्वपर्याय संयुक्त द्रव्यका कार्य बन रहा है। ऐसी बात धीरे-धीरे बड़ी शान्तिसे अन्दर ही अन्दर इस जीवके अनादिकालसे चल रही है याने इस जीवने अपने उपयोगमें तो बड़ा क्षोभ मचाया, बड़ा संक्लेश किया, सारी बातें हो रहीं तो यह उपयोगमें संक्लेश हुआ, क्षुब्ध हुआ, बड़ी खलबली मचायी, मगर पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तरपर्यायका कारण बना, ऐसा बननेकी विधि धीरे-धीरे वहाँ चल रही है। उस पद्धतिमें क्षोभ नहीं है, वहाँ कुछ गड़बड़ नहीं हो रहा है। वह उपादानोपादेयकी धारा तो धीरे-धीरे चल ही रही है। यों समझिये कि जैसे कछुवाकी चाल और खरगोशकी चाल।

एक बार कछुवा और खरगोशमें होड़ लग गयी कि देखो यहाँसे १ मील दूर अमुक जगह पर जो पेड़ है वहाँ पर अपन दोनोंको चलना है। सो देखना है कि वहाँ सबसे पहिले कौन पहुँचता है ? अच्छी बात। अब चल पड़े दोनों। तो खरगोश तो छलांग मारकर दौड़ पड़ा, थोड़ी ही देरमें बहुत दूर निकल गया। कछुवा बेचारा पीछे पीछे धीरे धीरे ही चलता रहा। खरगोश कुछ दूर पहुंचकर सोचता है कि कछुवा तो अभी कहीं का कहीं पड़ा होगा, चलो थोड़ा यहाँ विश्राम करें, बादमें फिर छलांग लगाकर झट उससे पहिले ही पहुंच जायेंगे। सो हुआ क्या कि खरगोश सो गया। उधर कछुवा धीरे-धीरे चलता ही रहा। जब तक वह खरगोश सोकर जगा तब तक तो वह कछुवा उस पेड़के नीचे पहुंच गया। देखिये—यह एक बच्चोंकी छोटी-सी कहानी है पर यहाँ इस कहानीको कहकर यह बात बतायी जा रही है कि पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायको पैदा कर रही है, यह भी एक चाल है जो कि गुप्त है। वह धीरतापूर्वक बिना क्षोभ मचाये चलती जा रही है। पूर्वपर्याय संयुक्तद्रव्य उत्तरपर्यायका कारण होता जा रहा है। वहाँ तो बात यह है। वह ईमानदारीसे बराबर चलती ही जा रही है। पर यह अज्ञानी जीव जिसके भीतरमें यह धारा चल रही है वह उपयोगमें अपनी खलबली मचाये हुए है। परपदार्थोंका आश्रयभूत करके उनकी ओर दृष्टि रखकर कि ऐसा क्यों नहीं होता ? यह भी कारण हो गया, बड़ी खलबली मचायी जा रही है और ऐसा समागम पाकर अपने उद्धारका अवसर पाकर भी यह यहाँ चेत नहीं पा रहा है और खलबलीमें ही अपना जीवन समाप्त कर देता है। तो सर्व पदार्थोंकी ऐसी ही धारा चल रही है कि पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तरपर्यायका कारण बन रहा है। तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कार्य और कारण यदि कुछ निरखना है अपनेसे सम्बंधित, तो निरखिये अपने आपमें ही। मैं अपने परिणामको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं कर सकता हूं और मुझमें जो कुछ भी हो रहा है उसका कारण मैं ही बना रखा हूं, दूसरा मेरा कारण नहीं, और दूसरा मेरा कार्य नहीं। व्यवहारदृष्टिसे बताया जा रहा यह सब कुछ कि खुद ही खुदका कारण बन रहा और खुद खुदका कार्य बन रहा। शुद्धनयसे तो यह आत्मा एक चित्तत्त्व मात्र है, क्योंकि इस दृष्टिमें यही देखा गया है तो इस दृष्टिमें आत्मा किसीका कार्य नहीं है, खुदका भी कार्य नहीं है और न किसीका कारण है। खुदका भी कारण नहीं है। वहाँ तो कोई विकल्प ही नहीं है। केवल एक चित् तत्त्व ही दृष्टिमें आ रहा है।

आत्माके सर्वव्यापित्व या सर्व-अव्यापित्वविषयक नवमी जिज्ञासा—अब ९ वीं जिज्ञासामें यह विषय जाननेके लिए कहा जा रहा है कि आत्मा सर्वव्यापी है या सर्व-अव्यापी है ? अर्थात् आत्मा समस्त दुनियामें, लोकमें फैला हुआ है अथवा वह सब जगह नहीं फैला, कुछ ही जगह रहता है। इस शंकाका आधार भी वे दो प्रकारके दर्शन बन रहे हैं, जिन दर्शनोंमें एक दर्शनने बताया है कि आत्मा सर्वव्यापी है, लोकमें कोई प्रदेश ऐसा नहीं है कि जहाँ यह आत्मा फैला न हो। और यहां तक कहा गया कि एक ही आत्मा है और वह सर्वव्यापी है। चेतन अचेतन सब पदार्थोंमें वही रहने वाला है। यहां तक किसी दर्शनमें बताया गया है। उस आधारपर यह जिज्ञासा हुई कि क्या आत्मा सर्वव्यापक है ? दूसरा प्रश्नविकल्प यह है कि क्या वह सर्व-अव्यापी है ? अर्थात् समस्त लोकमें फैला हुआ नहीं है ? इसका आधार एक तो यथा कथञ्चित् समझा गया सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, जहां कि यहां स्पष्ट विदित हो रहा कि यह पशु अपने आपके शरीरमें ही है, यह मनुष्य यह खुदके शरीरमें ही है। इसी सम्बन्धमें एक दर्शन और है, जो कहता है कि आत्मा तो बटबीज प्रमाण अत्यन्त अणु है और वह अणु आत्मा एकदम द्रुतगतिसे देहमें घूमता रहता है। इस कारण यह मालूम होता है कि आत्मा बड़ा है, देहव्यापी है। वह देहके किसी एक हिस्सेमें है। इस प्रकारके दो दर्शनोंके आधारपर यह जिज्ञासा होती है कि आत्मा सर्वव्यापी है या सर्व-अव्यापी ?

आत्माके सर्वव्यापित्व व सर्व-अव्यापित्वविषयक जिज्ञासाका समाधान—उक्त जिज्ञासाका समाधान भी दो दृष्टियोंसे होगा। जब शुद्धनयसे देखते हैं तो वहां आत्मा न सर्वव्यापी विदित होता है, न सर्व-अव्यापी, क्योंकि शुद्धनयका विषय है सहज स्वभाव। ९ तत्त्वोंमें रहकर भी जो अपनी एकताको नहीं छोड़े हुए है अर्थात् जो सदा शाश्वत एक स्वरूप है ऐसा जो सत्त्वका प्राणभूत सहज स्वभाव है वह शुद्धनयका विषय होता है। उसे जब कोई दृष्टिमें लिए हुए है तो उस स्थितिमें इसे न सर्वव्यापी विदित होगा, न सर्व-अव्यापी।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वह तो एक स्वभावकी दृष्टिमें मग्न है, उसके अनुभवमें है। तो निश्चयसे अर्थात् शुद्धनयसे आत्मामें ये कोई विकल्प नहीं किए जा सकते हैं। अब व्यवहारसे देखा जाय तो विदित होता है कि आत्मा अपने देह प्रमाण है, सारी दुनियामें व्यापक नहीं है। हाँ कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि देहसे बाहर भी आत्मा रहता है। इसे कहते हैं समुद्धात। समुद्धातकी स्थितिमें आत्मा देहके बाहर भी रहता है। जैसे कि वेदना या कषाय जगने पर आत्मा अपने शरीरसे बाहर तिगुने प्रमाण क्षेत्र तक जाता है अथवा मारणान्तिक समुद्धात होने पर जन्मस्थानसे लेकर मरणस्थान तक फैला हुआ रहता है। अथवा केवली समुद्धातमें दो प्रतरके समयोंमें यह लोकमें फैला है। पर वहाँ बातबलय अविशिष्ट रहता है, लोकपूरणकी स्थितिमें आत्मा सर्व लोकभरमें फैला होता है। वह एक समयकी स्थिति है, सो भैया! उस स्थितिसे अन्य जीवोंको क्या लाभ है? वह तो उनके शेष तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति कम होनेके लिए सहज होती है। तो आत्मा प्रायः देह प्रमाण है। यह जो देह प्रमाण है, उस प्रमाण इसमें विस्तार है। अनुभव भी आत्मप्रदेशोंमें होता है। वह भी यहाँ जाना जाता है कि आत्मा बटबीजके प्रमाण न तो अणु है कि एक छोटा आत्मा देहभरमें चक्कर लगाता हो, न ब्रह्माद्वैतादिककी तरह यह सर्वव्यापी है। यह आत्मा सर्व एक नहीं है, किन्तु अनन्त आत्मा है और वह सब अपने अपने स्वरूपमें एक होता ही है। इस तरह आत्मा व्यवहारदृष्टिसे देहप्रमाण है। न तो सर्वव्यापीका एकान्त है और न अणुप्रमाण का एकान्त है।

ज्ञानत्वाकी दृष्टिसे ज्ञाताकी अद्भुत सर्वव्यापकता—एक दृष्टि ऐसी हो सकती है कि जिससे शुद्धपर्याय परिणत केवलज्ञानी आत्माको हम सर्वव्यापी कह सकते हैं। उसकी दृष्टि यह है कि आत्मा ज्ञानमात्र है। जब इस निगाहसे चलकर देखते हैं और प्रदेशको गौण करके चूँकि ज्ञानद्वारा ही आत्मा परीक्षित होता है अर्थात् ज्ञानस्वरूप तके जानेसे ही आत्माका परिचय होता है तो आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञान कितना बड़ा है? उस ज्ञानको हम किस आकारसे निरखकर बतायें कि इतना बड़ा है? तो ज्ञानके आकारको ही निरख कर कह लीजिए। ज्ञान कितने आकारप्रमाण है? समस्त ज्ञेयाकारप्रमाण है अर्थात् ज्ञानमें तीनों लोक, अलोक अतीत अनागत वर्तमान सभी तो विषय हो रहे हैं। तो इस तरह आत्मा नहीं किन्तु ज्ञान, ज्ञान क्या? वह आत्मा। जब ज्ञानमय दृष्टिसे देखा तो वह ज्ञान सर्वव्यापी है और आत्मा तो केवली समुद्धात की स्थितिमें केवल लोकभरमें ही फैल पाया था, किन्तु यह ज्ञान तो लोक और अलोक सर्वत्र फैला हुआ है। सो यह कहीं प्रदेश से फैले हुएकी बात नहीं कह रहे, किन्तु ज्ञानसे इसी तरहसे रूपक आंका जाता है कि ज्ञान कितनेमें गया? कितने क्षेत्र तक फैला? यद्यपि वह ज्ञान ही क्या, सभी गुण प्रदेश

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अपेक्षासे आत्माके बाहर व्यापक नहीं है, फिर भी ज्ञान ही हमारा एक ऐसा अद्भुत गुण है कि जिसका अवगम इसी तरह जाना जाता है कि यह कितने ज्ञेयोंमें फैला हुआ है ? इस दृष्टिसे हम ज्ञानको, आत्माको सर्वव्यापी भी कह सकते हैं, पर यह दृष्टि तो शंकाकारकी नहीं है या लौकिक जन जो चर्चा करते हैं, इस सम्बन्धमें वे इस दृष्टिसे नहीं करते, किन्तु जैसे कि यह पदार्थ इतना बड़ा है, इतना फैला है, इतनेमें व्यापक है। इसी प्रकार यह आत्मा कितनेमें व्यापक है, यह बात चर्चामें आया करती है।

आत्माके सर्वव्यापित्व व सर्व-अव्यापित्वका समाधानोपरान्त निर्णय—उक्त विवेचनों से हमारा यह निर्णय हुआ कि आत्मा निश्चयतः तो न सर्वव्यापी है, न सर्व-अव्यापी है और व्यवहारतः यह देहप्रमाण है। कदाचित् समुद्घातकी स्थितियोंमें देहसे बाहर भी होता है किन्तु वह इस तरह शाश्वत नहीं रह सकता है। वह है एक आगंतुक बात। और फिर उस समुद्घातसे हटकर फिर यह देहप्रमाण हो जाता है। औरकी तो बात क्या ? जब देहसे मुक्त हो जाता है आत्मा तो मुक्त-अवस्थामें भी यह चरम देहप्रमाण रहता है। कारण यह है कि अन्य प्रकारके आकार पानेका अब कारण नहीं रहा है। आत्मा छोटा बड़ा बने, भला चींटी के देह बराबर है हाथीके देह बराबर है। इस तरहकी विषम आकारमें घटे, बढ़े, इसका कारण है कर्मोदय। वह जब न रहा तो जिस स्थितिमें मुक्ति रही वही स्थिति रह जाती है। इस तरह वे सिद्ध भगवान भी उस चरमदेह प्रमाण रहते हैं।

आत्माके कषायसहितत्व व कषायरहितत्वविषयक दशमी जिज्ञासा—अब १० वीं जिज्ञासामें यह जानने का उपक्रम हो रहा है कि आत्मा कषाय सहित है या कषायरहित ? कषायसहित या कषायरहित ऐसे दो विकल्पोंका आधार यही है कि पाया ही जायगा जीव या तो कषायसहित या कषायरहित। सहित और रहित—ये दोनों जहाँ एक शब्दमें लिए जायेंगे वहाँ सारी दुनिया आ जाती है। जिसकी बात कहेंगे वह सब आ जायेगा। जैसे जीवसहित जीवरहित। अब इसमें कौनसा पदार्थ छूट गया ? एक शब्दमें उस शब्दको बोलकर उससे रहित बोला जाय तो कुछ छूटा क्या ? सब आ जाता है। जब कषाय सहित और कषायरहित विकल्प हुआ तो सब आत्मा आ गया। कोई आत्मा ऐसा नहीं है जो इन दो चीजोंसे पृथक् हो। या कषायसहित मिलेगा या कषायरहित मिलेगा। तो यहां यह जिज्ञासा होती है कि वास्तवमें यह जीव है कैसा ? कषायसहित है या कषायरहित। ऐसा भी सोच लीजिए कि जैसे कोई काठ मजबूत है, बड़े सार वाला है, पुष्ट है और १००-५० वर्ष बाद वह साररहित हो जाता है तो वहां यह कहा जायगा कि यह काठ तो सारसहित था, मगर अब साररहित हो गया तो क्या इस तरह यहां भी है क्या कि आत्मा तो वास्तव में कषायसहित ही है, मगर कारण पाकर कषायरहित हो गया। उस जीवका जो सार है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कषाय, वह सार निकल गया। जैसे पुराने काठमें से सार हट जाता है, क्या इस तरह आत्मा है ? ऐसा सोचनेका आधार एक वह दृष्टि हो सकती है कि जहाँ यह माना गया है कि जीव सदा रागवान है, उसका राग ही स्वरूप है। रागको छोड़कर जीव हम और क्या बतायें ? और कभी यह जीव तपश्चरण करके मुक्त भी हो जाता है, तो वहां कहीं रागशून्य नहीं हो गया, किन्तु दब गया और जब सदाशिवकी मर्जी होती तो वह राग पैदा करके फिर ढकेल देता है। तो इस तरहकी बातसे भी यह जिज्ञासा बन सकती है कि क्या आत्मा कषायसहित है अथवा कषायरहित। कषायसहित कहनेमें यह तो सीधा ही बिगाड़ है कि आत्मा कषायसहित हो गया। आत्मामें कषाय आगंतुक है, कर्मोदयसे आयी है, घटनासे प्रकट हुई है। वास्तवमें आत्मा तो कषायरहित है। कषाय औपाधिक चीज है। इस तरह आत्मा क्या कषायरहित है ? इस बातको लेकर १० वीं जिज्ञासा आयी है।

आत्माके कषायसहितत्व व कषायरहितत्वविषयक जिज्ञासाका निश्चय दृष्टिसे समाधान— उक्त जिज्ञासाका समाधान भी निश्चय और व्यवहार--इन दोनों दृष्टियोंसे किया जायगा। जब आत्माको शुद्धनयसे विचारते हैं तो वह न कषायसहित है, न कषायरहित है। आत्मा तो एक शुद्ध निज स्वभावमात्र है। सहित और रहित बताकर वस्तुका सही स्वरूप नहीं दिखाया जा सकता है। वह तो एक स्थिति बतायी गई है। जैसे पूछा जाय कि यह चौकी मैलसहित है या मैलरहित है ? तो मैलसहित कहनेपर क्या चौकीका स्वरूप बताया गया अथवा मैलरहित कहनेपर क्या चौकीका स्वरूप बताया गया ? चौकीका स्वरूप बताया जा सकेगा चौकीके ही निजमें रहनेवाले तत्त्वको बताकर कि यह ऐसे काठका है, ऐसा पुष्ट है, अमुक जातिका है। इस तरह तो चौकीका स्वरूप बताया जायगा, पर यह मैलसहित है, या मैलरहित है इस तरहके विकल्पमें चौकीका स्वरूप नहीं आ सकता है। यों ही आत्माका स्वरूप जो आत्मामें विध्यात्मक है, शाश्वत है, प्राणभूत है। उस आश्रवकी बात कहकर तो आत्माका स्वरूप बताया जा सकता है। पर यह कषायसहित है, या कषायरहित है, इन दो बातोंसे आत्माका स्वरूप न आयगा। वे स्थितियां आ जायेंगी कि आत्माकी कोई स्थिति होती है कषायसहित और कोई स्थिति होती है कषायरहित। अथवा कषायसहित और कषायरहित दोनों प्रकारसे इस आत्मतत्त्वकी बात सोचनेमें तो इस आत्मस्वरूपका अपमान ही समझियेगा। कोई सम्मान नहीं होता, किन्तु वह अपमान है। किसी तरह जब यह कहा गया कि आत्मा कषायसहित है तो यह तो प्रकट अपमान है, उसको कषायवान कहा जा रहा है। पर कषायवान तो नहीं है। वह तो पवित्र है, योगियों द्वारा ज्ञेयभूत है, वही एक मात्र आलम्ब्य है। उसे क्यों कहा गया कि कषायसहित है ? जैसे— किसीको कहा जाय कि तुम्हारे बाप कैद सहित है तो उसे वह कहाँ बरदाश्त करेगा ? वह तो साक्षात् अपमान

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। और जब कहा जायगा कि आत्मा कषायरहित है तो इस बोलीने कुछ इतना तो ध्यान करा ही दिया कि आत्मा कषायसहित था, मलिन था। जानने तो चले थे उस शुद्ध अंतस्तत्त्वको, मगर उस जाननेकी उछालमें कषायरहित कहकर एक उसके मैलका स्मरण करा दिया कि वह कषायसहित था, रहित कौन होगा ? जो पहिले सहित था अब वियुक्त हो गया। जिस शुद्ध आत्मतत्त्वका यहाँ वर्णन करनेके लिए यत्न कर रहे हैं क्या वह कषाय-सहित था ? अगर था तो कभी कषायरहित नहीं हो सकता। वह शुद्ध आत्मतत्त्व सहज सत्त्वके ही कारण जो उसमें भाव है शाश्वत वह कषायसहित हो तो फिर अवसर ही नहीं हो सकता कि कषायरहित हो सकेगा। जैसे कि आत्मा चैतन्यसहित है। शुद्धनयसे निरखने पर यह विदित होता कि यह चिद्भावमय है। तो क्या उसका चिद्भावपना कभी हट भी सकता है ? तो उस शुद्ध आत्मतत्त्वको कषायरहित कहनेपर एक तो स्वरूप विदित नहीं होता, दूसरे अपमान भी विदित होता है।

आत्मतत्त्वको कषायसहित माननेमें विडम्बना व परमार्थ आत्मतत्त्वकी वचना-गोचरता—अन्तस्तत्त्वको कषायसहित माननेमें यह विडम्बना भी बन जायगी कि यह कभी कषायरहित हो ही नहीं सकता। तो वह शुद्ध अन्तस्तत्त्व जिसका आश्रय करनेसे परम कल्याणलाभ होता है, वह कषायसहित जैसे नहीं है वैसे ही कषायरहित भी नहीं है। तब इन दोनों विकल्पोंसे परे है। जैसे किसी पुरुषको कहा जाय कि तुम्हारे बाप कैदसे मुक्त हो गए तो भी उसे बुरा लगेगा। उसका अर्थ यह है कि कैदमें था। यदि कोई कहे कि यह कैदसे मुक्त हो गया, मान लो वह कैद भी न गया हो तब भी बुरा है और कैदमें गया हो तब भी उसे यह बात सुननी बुरी लगती है। तो यह तो शुद्ध अन्तस्तत्त्व जो योगी जनोंको ध्येय है, पूज्य है वह स्वभाव परभावसे भिन्न, आपूर्ण, अनादि अनन्त, एक और एक इस प्रकारके विकल्पसे भी रहित एक चित्स्वभावमात्र ऐसे आत्माके स्वरूपको तो पूछा जा रहा है और उसे कषायसहित अथवा कषायरहित इस विकल्पमें पूछा जाय तो शुद्धनयकी दृष्टिमें ये दोनों ही भाव नहीं आते। वह तो एक ज्ञायक भावमात्र है। अथवा वह तो विकल्पके अगोचर है, वचनके अगोचर है, ज्ञायक भावमात्र है, ऐसा कहनेपर भी चूँकि शब्द सब धातु निष्पन्न है तो उस धातुका अर्थ है जानना। तो उस आत्मामें एक जाननेकी विशेषता की बात कही गई है। वह पूर्ण आत्मद्रव्य तो नहीं कहा गया है, फिर भी अगत्या कुछ शब्द ऐसे माने गए हैं कि जो एक विशेषणका सूचक न होकर परिपूर्ण द्रव्यका सूचक रहा करें। इस तरह किसी भी शब्द द्वारा उस अखण्ड आत्माका ज्ञान कराया गया है। वस्तुतः तो वह अनुभवगम्य है। ऐसा यह आत्मा निश्चयतः शुद्धनयसे न कषायसहित है और न कषाय-रहित है, किन्तु एक ज्ञायक स्वभावमय है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

आत्माके कषायसहितत्व व कषायरहितत्वविषयक जिज्ञासाका व्यवहारदृष्टिसे समाधान—अब व्यवहारदृष्टिसे जब हम देखने चलते हैं तो हाँ है यह आत्मा कषायसहित व कोई आत्मा कषायरहित है। १० वें गुणस्थान तक आत्मा कषायसहित कहा गया है। यद्यपि श्रेणियोंमें उन कषायोंका कोई व्यक्तरूप नहीं होता और न कोई उनके अनुसार यह प्रवर्तन होता है, वह तो ध्यानदशा है, लेकिन प्रकृतिका उदय हो रहा है वहाँ और उस उदयमें नैमित्तिक भाव बन रहे हैं। उसे उपयोग ग्रहण नहीं करता, अथवा उसमें बुद्धि नहीं लगायी जाती, पर निमित्तनैमित्तिक भाव तो वे चल रहे हैं। यों समझिये कि जैसे चेतन अचेतन पदार्थोंमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव अटल रहता है, उनका कोई निवारण क्या करेगा ? घड़ी ठीक है, पेंच पुर्जे सही हैं, चाभी भर दी गई है तो वहाँ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक भाव है कि घंटी भी हिलती, सूई भी चलती, भीतर पेंच भी चल रहे, वह निमित्तनैमित्तिक भाव है। उसे कौन टाल देगा ? कभी कोई पुर्जा बिगड़ गया, घड़ी बन्द हो गयी तो वह भी निमित्तनैमित्तिक भाव है ऐसी स्थितिमें भी उसे होना पड़ता है, इसे कौन टाले ? यहाँ जब निरखते हैं सहकारी कारण, उपादेय कारण, प्रतिबंधकका अभाव यह सब ठीक हो गया हो तो वहाँ कार्यका कोई निवारण नहीं कर पाता। इसे थोड़ा इस दृष्टिसे समझनेके लिए यहां भी देखिये कि श्रेणियोंमें अभी इतनी योग्यता है। उन जीवोंमें जो कषायसहित हैं, ७ वें गुणस्थान तकके उन साधुवोंमें। और तदावरण प्रकृतिका उदय भी है और वहां बताया जा रहा है चारित्रगुणका विकार, जो चारित्रगुण स्वयं चैतन्य स्वरूपको लिए हुए नहीं है अर्थात् है तो चेतनसे अभिन्न लेकिन जैसे अकलंकदेवने भी स्तवनमें कहा है कि यह आत्मा चिद्चिदात्मक है, प्रमेयत्व आदिक धर्मसे अचेतन है और ज्ञानधर्मसे चेतन है तो ज्ञानदर्शनको छोड़कर अन्य कोई धर्म चेतनेका स्वरूप नहीं रख रहा है। तो लो इस दृष्टिसे वहां अचेतन अचेतनमें निमित्तनैमित्तिक भाव हो रहा है, चारित्रगुण हो रहा है, विकृत और प्रकृतिका उदय हो रहा है। और योग्यता वहां आत्मामें उस प्रकार की है तो श्रेणिमें भी किमपि कुछ हो गया हो, जिसको हम वचनोंमें क्या कहें ? जिन पर वह बात बीत रही है वे आत्मा भी ज्ञानमें नहीं ले पाते हैं। इतना जो कुछ वहां हो रहा है, तो व्यवहारदृष्टिसे अर्थात् निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टिसे वहां दिख रहा है कि हां आत्मा कषायसहित है और जहां ये कषायें न रहीं तो वहां कषायरहित है, सिद्धभगवान कषायरहित हैं, अरहंतप्रभु कषायरहित हैं, क्षीणमोह कषायरहित हैं, अथवा मोटे रूपमें देखें तो जहां व्यक्त कषायें जग रही हैं उनको हम कहते हैं कि यह बड़ा कषायवान है और जो पुरुष शान्त रहता है उसको कहते हैं कि यह कषायरहित है। तो ये दो बातें जो देखी जाती हैं वह व्यवहारदृष्टिसे है।

कल्याणलाभके लिये शुद्धनयके विषयभूत अन्तस्तत्त्वकी आश्रेयता—शुद्धनयसे तो इस समयसारको इस शुद्ध आत्मतत्त्वको जो योगियोंको ध्येयभूत है उसे जब हम निरखते हैं तो वहां एक चिद्भाव विदित होता है। वहां सहित और रहितपनेका विकल्प नहीं उठता है। इस तरहका यह आत्मा निश्चयत: अर्थात् शुद्धनयसे न कषायसहित है, न कषाय-रहित है, किन्तु व्यवहारनयसे है कषायसहित व कषायरहित। जैसे कि कुन्दकुन्द प्रभुने बताया है कि वह शुद्ध आत्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है। क्यों नहीं है आत्मा प्रमत्त या अप्रमत्त ? यों नहीं कि आत्मा स्वत: सिद्ध है, अनादि अनन्त है, वह शुभ अशुभ भावसे परिणमने का अपने में स्वभाव नहीं रखता है। होता है शुभ परिणाम, अशुभ परिणाम आत्मामें, पर उनको परिणमानेका स्वभाव रखे अगर तो जैसे केवलज्ञान स्वभाव होनेसे परिणमता रहता है इसी तरह ये कषायें शुभ अशुभ भी परिणमती रहा करें। तो स्वभा-वत: आत्मा शुभ अशुभ भावोंसे नहीं परिणमता है, पर होता रहता है, ऐसे ही उन कर्मों का उदय दुरंत है, फिर भी स्वभावसे अन्यभावरूप नहीं परिणमता, इस कारण न प्रमत्त है, न अप्रमत्त, किन्तु वह तो जो वह एक है, जो चिद्भावस्वरूप है वही वह है, अन्य किन्हीं परिणतियोंसे उसे बाँधा नहीं जा सकता है। यहां चर्चा चल रही है उस शुद्ध अंत-रतत्त्वकी, जिसकी उपासनासे, जिसके ध्यानसे सर्वकर्ममल हट जाते हैं और जन्म मरणके संकटोंसे दूर रहकर अभयधाममें यह आत्मा सदाके लिए विराजमान हो जाता है। उस शुद्ध अंतस्तत्त्वकी बात यहाँ बतायी गई है कि उसे न तो कषायसहित कह सकते हैं और न कषायरहित कह सकते हैं। इसीके साथ-साथ अन्य बातें भी जाननी चाहिएँ। जैसे कषायसहित, कषायरहित नहीं, मिथ्यात्वसहित मिथ्यात्वरहित भी नहीं आदिक, ऐसी जो जो भी बातें प्रस्तुत हों उन उन विकल्पोंसे भी परे यह आत्मतत्त्व है। उस शुद्ध अन्तस्तत्त्व के ध्यानसे, आश्रयसे आत्माका कल्याण होता है और वह शुद्ध आत्माका अभयपद प्राप्त होता है कि जिसमें ये सिद्ध भगवन्त विराजे हैं, जो बड़े-बड़े योगीश्वरोंके द्वारा ध्येय हैं।

आत्माके एकत्व अनेकत्वविषयक जिज्ञासाका समाधान—अब ११ वीं जिज्ञासामें यह जाननेकी बात है कि आत्मा एक है कि अनेक। इसी जिज्ञासाके समानमें यह जिज्ञासा पहिले हुई थी कि आत्मा एक है अथवा भिन्न-भिन्न। उसका सार यह था पूछनेमें कि आत्मा वहीका वही है या भिन्न-भिन्न है, जिसे इन शब्दोंमें कहिये कि आत्मा तत् है या अतत्। और इस जिज्ञासामें संख्याकी प्रधानताके आशयसे जिज्ञासा है कि आत्मा एक है या अनेक। इसका भी समाधान पूर्व समाधानकी तरह निश्चय व व्यवहार—इन दो नयोंसे जाना जाता है। यह प्रश्न एक ही आत्मामें उठा हुआ समझें और एक ही में समाधान पायें। निश्चयदृष्टिसे आत्मा एक है व व्यवहारदृष्टिसे पर्यायदृष्टिसे आत्मा अनेक है। जैसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मनुष्य, तिर्यञ्च आदि अवस्थावोंमें पहुंचता तो उस उस योग्यताकी अपेक्षा अनेक है। इसी अनेकताके एकान्तमें क्षणिकवाद व जीव आत्माके भेदका दर्शन रचा गया। आत्मा द्रव्य दृष्टिसे एक है व पर्यायदृष्टिसे अनेक है।

आत्माके नित्यत्व अनित्यत्व विषयक १२वीं जिज्ञासामें नित्यत्व विकल्पका मंतव्य—अब यहाँ १२ वीं जिज्ञासा हो रही है कि आत्मा नित्य है या अनित्य ? नित्यका अर्थ है सदाकाल रहनेवाला, अनित्यका अर्थ है सदाकाल न रहनेवाला। ऐसे प्रश्न विकल्प होनेके आधार ये हैं कि जब कि यहाँ दिख रहा है कि जीव वही एक रहता है, जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त और मरणके बाद भी कहीं भूत प्रेत आदिक होता है, इस तरहकी भी धारणायें सुनीं तो इस दृष्टिसे लौकिक जनोंको यहाँ जिज्ञासा हुई कि क्या आत्मा सदाकाल रहने वाला है ? दार्शनिक दृष्टिसे परखा कि आत्मा ध्रुव अपरिणामी माननेका एक मंतव्य है तो उस आधारपर भी यह जिज्ञासा हो जाती है कि क्या आत्मा नित्य है ? नित्य एकान्तवादियोंने आत्माको ध्रुव अपरिणामी नित्य माना है। जिसे कहते कूटस्थ नित्य। कूटस्थका अर्थ यह है कि लुहारकी जैसे निहाई होती है जिसपर कोई चीज रखकर हथौड़ेसे पीटा जाता है तो वहाँ देखिये कि संडीसीसे पकड़े हुए कोई चीज है, उसपर हथौड़ेसे तेज मारा भी जाता है पर वह निहाई ज्योंकी त्यों अडिग रहती है। वहाँ हथौड़ा भी ऊँचे नीचे उठता रहता है, संडासी भी छिन-छिनमें अदलती बदलती रहती है, और जो लोहा पिट रहा है वह भी बदलता रहता है, मगर जो निहाई है वह तो ज्योंकी त्यों अवस्थित रहती है, वह अपरिणामी है, कभी बदलती ही नहीं है, कभी परिणमन होता ही नहीं है। ऐसा होता है नित्य। यह उनका एक दृष्टान्त है। तो नित्य एकान्तवादी मानते हैं आत्माको कूटस्थ नित्य अपरिणामी। क्या ऐसा है ?

द्वादशी जिज्ञासाके अनित्यत्व प्रश्नविकल्पका मंतव्य—अब दूसरे प्रश्न विकल्पकी बात सुनो—जब यहां ही लोकमें देखा कि जो भी जीव है वह क्षण भरमें बदलसा जाता है। आज जिससे मित्रता है और बड़ा हृदय मिलाजुला है और कलके दिन एकदम विमुख हो जाता है तो वह जीव कहां रहा, वह तो बदल ही गया। कोई शत्रु है आज अत्यन्त विमुख है, कारण पाकर वह घनिष्ट मित्र हो जाता है, पूर्ण विश्वासपात्र बन जाता है तो वह जीव और था, यह जीव और है। वही होता तो जैसा करता आया वैसा ही करता ना। तो इससे यह सिद्ध होता है कि जीव अनित्य है। इसके अतिरिक्त दार्शनिक दृष्टिसे सोचें तो कोई दर्शन ऐसा कहते हैं कि जीव तो इतना अनित्य है, इतना ध्रुव है कि वह दूसरे क्षण भी नहीं रहता। इसका प्रधान नाम चित्तक्षण है, न कि जीव। उस चित्तक्षण का ही नाम जीव रख दिया। वे दार्शनिक स्पष्टरूपसे उसका नाम चित्तक्षण रख रहे हैं।

Version 1

जिस क्षणमें जो चित्त है चित्त मायने जीव चेतनकी बात बस उस ही क्षणमें वह है, न पहिले था, न आगे होगा। और इस सिद्धान्तमें केवल जीवको ही क्षणवर्ती नहीं माना। प्रत्येक पदार्थ क्षणवर्ती हैं। रूपक्षण, रसक्षण, गंधक्षण, स्पर्शक्षण ये पदार्थ हैं, पुद्गल कोई पदार्थ नहीं। पुद्गल तो इन रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिकके मेल होनेपर एक कल्पना किया गया है कि यह कल्पना किया गया है। पदार्थ तो रूपक्षण आदिक हैं। और वे भी सब क्षण-क्षणमें ही होनेवाले हैं, दूसरी क्षण ठहरने वाले नहीं हैं। तो यों सभी पदार्थोंकी भाँति यह आत्मा भी अनित्य है, क्षणवर्ती है, ऐसे दो प्रश्न विकल्पोंमें यह जिज्ञासा बनी है।

उक्त जिज्ञासाके समाधानमें द्रव्यदृष्टिसे आत्माके नित्यत्वका कथन—उक्त जिज्ञासा का समाधान भी दो दृष्टियोंसे होगा—निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि अथवा कहो द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि। जब द्रव्यदृष्टिमें निहारते हैं तो आत्मा सदाकाल शाश्वत वही एक रहता है। जैसे यहां वृक्षोंमें दिखता है कि जो एक नई पतली टहनी निकली है वह झुकी हुई है, कोमल है। उसका स्पर्श और है जब वह बड़ी मोटी हुई, बड़ा रूप लिया तो बड़ा दृढ़ एक शाखाका रूप बन जाता है। तो इतना परिवर्तन हो गया, तिस पर भी क्या यह कहा जायगा कि वह टहनी कोई और थी अब यह शाखा कोई नयी बन गई। इतनी ही मोटी किसी दिन आकर फिट बैठ गयी। ऐसा तो नहीं नजर आता। वह तो वही चीज है जो आज ऐसे स्थूल आकारमें आ गया है। तो ऐसे ही सभी वस्तुओंकी बात समझना चाहिए। जीव भी चाहे कितना ही बदले, मित्रतासे शत्रुतामें आये, क्रोधसे लोभमें आये, कषायसे अकषायमें आये, उसका हो अनेक परिणमन, पर जिसमें परिणमन हो वह एक जीव है। दूसरी बात यह है कि कोई भी असत सत् नहीं होता। कुछ होता ही नहीं हो और कुछ बन जाय ऐसा कहीं नहीं होता है, न कभी हो सकेगा। कुम्हार भी घड़ा बनाता है तो वहाँ भी मिट्टी ही तो घड़ारूप परिणमी। कुछ भी न हो और यों ही घड़ा बना दे तो ऐसा तो कोई नहीं कर पाता है और कोई कर दे तो उस घड़ेमें से कोई पानी न पी सकेगा। वह इन्द्रजाल है, मायासे दिखाया हुआ है। उसमें अर्थक्रिया न होगी। तो कुछ भी चीज बनती है तो किसी सत्त्वसे ही तो बनती है। असत् कभी सत् नहीं हो सकता। तो मानो पहिले न था, आगे न रहेगा और वर्तमानमें है तो ऐसा असत्भूत आयेगा कहांसे ? तो आत्मा ध्रुव नहीं, किन्तु क्षणवर्ती है। कुछ ऐसा एकान्त नहीं टिक सकता है। द्रव्यदृष्टिसे निहारने पर वह पदार्थ है अनादिसे है, अनन्तकाल तक रहेगा। उसका कभी विनाश नहीं होता। तद्भावाव्ययं नित्यं। नित्यका अर्थ दिया है कि उसके भवनका कभी व्यय न होना सो नित्य है। वहीं ऐसा नहीं कि पर्याय न हो, अपरि-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

णामी ही हो वह नवीन-नवीन क्षणोंमें नवीन-नवीन अवस्थारूप होता जाय, इस व्यायाम का कभी अभाव न होगा, इस व्यापारका कभी अभाव नहीं होता। इसीको नित्य कहते हैं। तो जिसमें परिणमन होता रहता है वह मूलभूत वस्तु है तो सही। कोई अंगुली नामका पदार्थ हो तब ही तो कभी सीधी हो, कभी टेढ़ी हो, कभी गोल हो, उसमें नाना आकार बनाये जा सकते हैं। तो जिससे ये नाना आकार बन रहे हैं उसके आधारभूत कोई द्रव्य तो है ही। तो इसी तरह विचारतरंग मालायें जहां उत्पन्न होती हैं उन विचारोंका आधार वह एक है। यों आत्मा द्रव्यदृष्टिसे नित्य है। अब ऐसे द्रव्यदृष्टिसे नित्य रहनेवाले आत्मा में उसके अन्तःस्वभावपर दृष्टि की जाय तो जैसे कि एकान्तवादियोंने माना कि वह तो अपरिणामी ध्रुव है, यह बात नजर आयगी। जब उस जीवमें उस सहजस्वभावको निहार रहे हों तो क्या वह सहज स्वभाव परिणामी है? क्या वह सहजस्वभाव मिट जाने वाला है? वह तो शाश्वत एक रूप है, यों वह शाश्वत एक रूप अपरिणामी निहारा जा रहा है। वह निहारा जा रहा है शुद्धनयसे। वस्तु केवल शुद्ध नयात्मक ही नहीं हुआ करती। जैसे अशुद्ध नयात्मक ही नहीं हुआ करता वह तो शुद्ध अशुद्ध नयात्मक है। यहाँ अशुद्धसे मतलब विकारसे न लेना, किन्तु कोई भेद आ जाय, कुछ अन्य बात विचारी जाय उसे अशुद्ध कहते हैं और एक सहज स्वभावमात्र का ही विचार हो उसको शुद्ध कहते हैं। तो वस्तु शुद्धाशुद्धात्मक है। तो यों द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ नित्य है, आत्मा भी नित्य है।

पर्यायार्थिकदृष्टिमें आत्माके अनित्यत्वका कथन—अब पर्यायदृष्टिमें निरखनेपर क्या विदित होता है। इसपर दृष्टि कीजिए। पर्याय जो उस द्रव्यके ऊपर आय होती है, जिसका कि फिर व्यय भी होता है, ऐसी जो कुछ भी स्थिति है वही तो पर्याय कहलाती है। वह स्वभावरूप नहीं बनता, इसलिए वह द्रव्यके ऊपर लोटने वाली चीज है। कहीं इसका अर्थ यह न लेना कि भीतर द्रव्य पूरा मौजूद है और वह अपने दिलको डाटे हुए है कि कहीं ऊपर पर्याय लोट रही तो उसके बोझसे मैं दब न जाऊँ। इस तरह कोई द्रव्य भीतरसे अपना दिल गड़ा करके डटा हो और उसके ऊपर पर्यायें लोटती जा रही हों, ऐसा नहीं है, किन्तु पर्याय जो है वह सर्वप्रदेशोंमें है। अन्तः बाह्य सर्वत्र है, पर ऐसी पर्याय होनेपर भी वहां स्वभाव अपरिणामी है, स्वभाव एकस्वरूप है। उस स्वभावमें बदल नहीं है। पर्यायें बदल रही हैं, स्वभाव वहीका वही है। यों उस स्वभावदृष्टिसे देखनेपर यह विदित होगा कि जो स्थितियां आती हैं वे स्थितियां तो अनित्य हैं, अध्रुव हैं, विनाशीक हैं, इस तरहकी अगर अनित्यता न हो तो न व्यवहार ही ठीक रह सकता है और न धर्ममार्ग ही चल सकता है।

क्षणिकैकान्तमें मार्गका अपलाप—एक ऐसा कथानक है कि एक क्षणिकवादी सेठकी

Version 1

गाय चरानेको एक ग्वाला ले जाया करता था। जब महीना पूरा हो गया तो उसने अपनी चराई माँगी। मान लो २) माहवार चराई पड़ती थी। तो सेठने कहा—अरे तुम क्यों हम से चराई मांगते हो? जिस आत्माको हमने गाय चरानेको दिया था वह तो कोई दूसरा आत्मा था। तुम तो अब कोई दूसरे ही आत्मा हो। वह मुझसे चराई मांगे जिसको हमने गाय चरानेको दिया था। तो मानो वह गाय चराने वाला (ग्वाला) भी कोई वैसा ही दार्शनिक होगा, उसने भी झट एक उपाय सोच लिया। दूसरे दिन उस गायको सेठके घर न ले गया, अपने ही घर बाँध लिया। अब तो आ गई सेठ पर आफत। सेठ झट पहुंचा ग्वालेके पास, बोला—हमारी गाय तुमने अपने घरमें क्यों बांध लिया? हमारी गाय हमें दो। तो ग्वाला बोला—अरे सेठ जी, जिसने ग्वालेको गाय चरानेको दिया था वह तो कोई और ही जीव था, तुम तो कोई दूसरे जीव हो। वही मुझसे अपनी गाय मांगे जिसने दिया हो। अब क्या करे सेठ? माफी मांगा और उसे २) के बजाय ४) देकर अपनी गाय वापिस लिया। तो देखिये— यदि कोई अनित्यताके एकान्तका हठ करले तो फिर उससे क्या व्यवहार चल सकेगा? इसी तरह कोई नित्यताका एकान्त कर ले तो भी व्यवहार नहीं चल सकता है। वह तो कूटस्थ है। किसीसे कोई बात कहा—मान लो नौकरसे कोई बात कहा और वह ऐसा ही ठूठकी तरह खड़ा रह गया, क्योंकि सेठने समझा दिया होगा कि जीव तो कूटस्थ अपरिणामी है तो ऐसा ही रहना चाहिए। कुछ सुने ही नहीं तो फिर भला बताओ काम कैसे चल सकेगा? तो अनित्य एकान्तमें व्यवहार नहीं चल सकता। मोक्ष-मार्ग भी नहीं चल सकता। जब जीवमें कुछ बिगाड़ ही नहीं होता, पाप भी नहीं करता, जन्म मरण नहीं करता तब कौन तपश्चरण करेगा? क्या जरूरी पड़ा है? और जब आत्मा क्षण-क्षणमें नया-नया ही बनता है तो फिर तपश्चरण करनेसे फायदा क्या, क्योंकि तपश्चरण तो कोई दूसरा आत्मा करे और मुक्त हो कोई दूसरा आत्मा। तो फिर तपश्च-रण करनेका झंझट ही कोई क्यों मोल ले? तो नित्य एकान्त और अनित्य एकान्तमें न तो परमार्थधर्म ही बन सकता है और न व्यवहारधर्म ही बन सकता है। यों स्याद्वादपद्धति से पदार्थ नित्यानित्यात्मक है।

स्याद्वादसम्मत नित्यानित्यात्मकत्व माने बिना आपत्तियोंका दिग्दर्शन—गुरुजी सुनाते थे कि कोई एक वेदान्ती गुरु शिष्योंको पढ़ाया करते थे—ब्रह्म एक है, ध्रुव है, अविकार है आदि, और उन गुरुकी आदत ऐसी थी कि एक मिठाई की दुकानमें जिसमें मांस भी पकता था और मिठाइयां भी अच्छी अच्छी बनती थीं, उस दुकानमें बैठकर रसगुल्ले खाया करते थे। तो एक शिष्यको यह बात अच्छी न लगती थी। एक दिन क्या हुआ कि जब वही गुरु जी उसी दुकानपर बैठे रसगुल्ले खा रहे थे तो उस शिष्यने देख लिया, तो झट

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गुरुके पास गया और दो तीन थप्पड़ जमा दिए। गुरुको बड़ा बुरा लगा। बोला, तूने थप्पड़ क्यों मारा? तू बड़ा अविनयी हो गया…। तो शिष्यने कहा, महाराज आप इस मांस पकने वाली दुकानपर रसगुल्ले क्यों खाते? तो गुरुने कहा– अरे कौन खा रहा है? मेरा ब्रह्म तो अविकारी है, शुद्ध है। तो शिष्य बोला– अरे तमाचा किसके लगा? तुम्हारा ब्रह्म तो अविकारी है, उसके तमाचा लग ही कैसे सकता है? तमाचा तो इस देहमें लगा? तो गुरु ने कहा– बस तुमने तो आज हमारी आँखें खोल दिया, याने सही ज्ञान जागृत करवा दिया। तो देखिये– कभी इस विधिसे भी आँखें खुला करती हैं। कोई एक राजा था। वह आत्मा परमात्मा कुछ नहीं मानता था। तो एक दिन वह हाथी पर बैठा हुआ कहीं घूमने जा रहा था। रास्तेमें मंत्रीका घर मिला, बोला—अरे मंत्री तुम आज हमें आत्मा और परमात्मामें अन्तर बताओ? तो मंत्री बोला— महाराज! आप हाथीसे उतर कर नीचे आइये! एक आध घंटा पासमें बैठकर अच्छी तरह सुनिये। तो राजा बोला—अरे हमारे पास अधिक समय नहीं है। हमको तो तुम ५ मिनटमें यों ही खड़े-खड़े बता दो। तो मंत्री समझदार था। वह बोला— महाराज ५ मिनट की तो बात क्या– यदि हमारा अपराध माफ हो तो हम एक ही मिनटमें समझा दें।… अच्छा, तुम्हारा अपराध माफ है समझा दो। तो मंत्री ने झट एक कोड़ा लेकर तीन चार कोड़े राजाकी पीठमें जड़ दिए– तो राजा बोला– अरे रे रे भगवान! तो मंत्री बोला—बस आप अपने प्रश्नका उत्तर स्वयं ही पा गए। जिसे आप अरे रे रे कहते वह तो आत्मा है और जिसे भगवान कहते वह परमात्मा है। तो कहीं इस तरहसे भी समझा दिया जाता है। तो नित्यानित्यात्मक माने बिना न कुछ व्यवहार ही बन सकता है और न परमार्थ ही बन सकता है। तब यह ध्यानमें लाये कोई कि यह मैं आत्मा सदाकाल रहने वाला हूं और क्षण-क्षणमें परिणमता रहता हूं। उसही की तो ये नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदिक अथवा ये सुख दुःख, शान्ति अशान्ति आदिक अनेक पर्यायें होती हैं। तो ऐसा यह मैं नित्यानित्यात्मक हूँ, मुझे धर्म करना चाहिए, किसलिए कि सदाके लिए हम संकटोंसे मुक्त हो जायें। अच्छा तो जब अनित्य समझा अपने आपको कि ये मेरी पर्यायें बदलती रहती हैं तो अशुद्ध पर्यायसे छुटनेमें ही कल्याण है, तभी तो वह धर्ममार्गमें लगेगा। और उसको यह ज्ञान है कि आज अज्ञान अवस्था है तो इससे हटकर हम ज्ञान अवस्थामें आ तो सकते हैं। तो अपने वह धर्ममार्गमें लगेगा। साथ ही यहाँ भी विचारें कि मैं सदा रहने वाला हूं, इसलिए मुझे दरकार है कि मैं धर्म करूँ। क्योंकि यदि मैं धर्म न करूँगा तो सदाकाल ऐसी पर्यायोंमें रहकर दुःख भोगना पड़ेगा। तो नित्यानित्यात्मक स्वीकार करनेमें परमार्थ मार्ग भी बनता है, व्यवहार मार्ग भी बनता है।

त्रयोदशी जिज्ञासामें आत्माके सत् अथवा असत् होनेके विषयमें अभत्के प्रश्नविकल्प

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का कथः — अब पूछा जा रहा है कि यह बताओ कि आत्मा सत् है अथवा असत् ? बात बड़ी मूलकी पूछी जा रही है जिसका समाधान होनेके बाद अन्य विकल्प उठ सकेंगे वह मूल बात यहां पूछी जा रही है। आत्मा सत् है अथवा असत् ? असत्के बारेमें यों शंका होती कि यह दिख रहा है कि बालक पैदा हो गया, जीव जंतु उत्पन्न हो गए, था तो कुछ नहीं और असत् हो गया। बल्कि कीड़ा मकोड़ोंमें तो यह देखा जा रहा कि उनके माँ बाप भी कोई नहीं होते और वे पैदा होते जाते हैं। अभी खाटमें जो खटमल होते हैं वे कितने ही झड़ा दिए जायें, उनके माँ बाप भी न रहें, माँ बाप होते ही नहीं, मोटे खटमल न रहें, फिर भी खटमल होते रहते हैं, तो बताइये वे कहांसे पैदा हो जाते हैं ? अरे असत्से सत् बन गए तो ये सब असत् हैं, सत् कुछ है ही नहीं।

प्रश्नकारका नैरात्म्यवाददर्शनका प्रमाण बताते हुए असत् विकल्पका समर्थन— अथवा यों देखिये कि केवल एक आत्माके बारेमें ख्यालका पुल ही बांधा जा रहा है और ऐसा पुल बांधकर धर्म और दर्शनका रूप देकर पुण्यवान जीवोंको भी कष्ट पहुंचाया जा रहा है। अरे आरामसे वे घरमें रहते, सुख भोगते, सारी बात थी, एक आत्माकी बात और लगा दी कि अब उनका सुख भी किरकिरा हो गया। सुबह आकर मन्दिर आ गए, दर्शन करें और धर्म करें, संयम करें, अपनेको कष्ट दें, तो एक आत्माकी बात कह कर लोगोंको कष्टमें फंसा दिया। और यदि यह समझा देते कि आत्माफात्मा कुछ नहीं है, ये तो ख्यालके पुल बांधे गए हैं, तो यह मनुष्य चैनमें रहता। यह बात केवल एक लौकिक जनोंकी नहीं कह रहे, ऐसा एक दर्शन भी गढ़ा हुआ है, जिसका नाम है नैरात्म्यवाद। नैरात्म्यवाद क्षणिकवाद, ये सब एक मित्रमण्डलीके ही लोग हैं। नैरात्म्यवादका यह मंतव्य है कि यह जीव जब तक संसारमें जन्म मरण करता है, भटकता है तब तक वह मान रहा है कि यह मैं हूं। तो आत्माका स्वीकार किया जिसने कि मैं हूं। फल उसका यह है कि संसारमें भटकना पड़ता है और जिस दिन यह ज्ञान हो जायगा कि वह आत्मा तो एक कल्पनाकी ही चीज है। जिस क्षण आत्मा था वह तो एक क्षण था और उस क्षण जो कुछ था वह तो अवक्तव्य है, विकल्पके अगोचर है। वह तो निर्विकल्प प्रत्यक्षका विषयभूत है जो कि व्यवसायात्मक नहीं होता, नैरात्मवादियोंका प्रत्यक्षज्ञान निर्णयात्मक नहीं कहलाता। उन्होंने कहा है कि जहाँ निर्णय बसा है वहाँ सविकल्पज्ञान हो गया और वह प्रत्यक्ष न रहा, वह कल्पनाकी चीज बन गया, तो निर्णय तो कल्पनाकी चीज है, वस्तुत्वकी चीज नहीं है और इस स्थितिमें जो समझा गया है आत्मा कि यह मैं हूं, बस उस समझके साथ ही जानो कि मायाजाल लग गया। सविकल्पज्ञानने यह बात समझा तो सविकल्पज्ञान मिथ्या माना गया है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वचन और विकल्पके विषयभूतोंकी काल्पनिकता बताकर प्रश्नकार द्वारा आत्माके असत्त्वका समर्थन—यदि कोई नैरात्म्यवादियोंको क्षणिकवादियोंको ज्यादह हैरान करे कि सविकल्प ज्ञान मिथ्या कैसे है ? सब जान रहे हैं कि भींत है, चटाई है, लोग हैं, यह निर्णय मिथ्या कैसे है ? तो उनका यह कहना है कि इस निर्णयसे व्यवहार तो चल रहा है, मगर यह उपचारसे माना गया है। वस्तुतः प्रमाण नहीं है। तो ऐसे निर्विकल्प प्रत्यक्षका विषय-भूत वह आत्मा एक क्षणवर्ती है। क्षण क्या चीज कहलाती है ? तो स्याद्वादियोंके सिद्धान्त से ही समझ लो—शंकाकार कह रहा है कि इसका प्रमाण है कि आँखोंकी पलक नीचे डाल दी, फिर उठा ली, यों आँखोंकी पलकें उठने गिरनेमें जितना समय लगता है उतने से समय में अनगिनते समय होते हैं, उनमें से सिर्फ एक समयकी बात कह रहे हैं। आँखकी पलकको कोई धीरे-धीरे नहीं गिरा सकता। किसीसे कहा जाय कि भैया जरा अपनी आँखकी पलक धीरे-धीरे एक मिनटमें गिराओ, तो क्या गिरा सकेगा ? नहीं गिरा सकता। अरे वह तो बड़ी जल्दी गिर जाती है, तो उस आँखकी पलकके एक बार गिरनेमें असंख्यात समय होते हैं। उनमें से एक समयको वह चित्तक्षण हो तो कुछ निर्णयमें आयगा क्या ? जितना निर्णयमें आया हुआ है वह सब सविकल्प है और मिथ्या है। तो जब तक यह कल्पना रहेगी कि मैं आत्मा हूं तब तक तो उसका संसार है जन्म मरण है और जिस दिन यह ज्ञानप्रकाश हो जायगा कि वह हमारी भूल थी जो मैं मान रहा था कि जीव हूं तो उसे मोक्ष हो जायगा। ऐसे इन नैरात्म्यवादियोंका कहना है। तो उस दार्शनिकके मंतव्यमें यह प्रसिद्ध हो रहा है कि आत्मा असत् है, तो क्या इस तरह आत्मा असत् है ? यह पूछा गया है इस जिज्ञासाके एक प्रश्न विकल्पमें। तो उस असत्की दृष्टिको परमार्थसे और लौकिकसे दोनोंसे कोई पुष्ट करता हुआ अगर समझाया जाय किसीके द्वारा तो उसको यह संदेह होता कि क्या आत्मा सत् है अथवा असत् ?

त्रयोदशी जिज्ञासाके सत्त्वविषयक प्रश्नविकल्प—आत्मा सत् है अथवा असत्, इस जिज्ञासामें असत् विषयक प्रश्न विकल्पके बारेमें कुछ वर्णन किया गया। अब क्या आत्मा सत् है, इस तरहकी जिज्ञासा हुई है, उसका दिग्दर्शन भी उसी वर्णनमें कुछ-कुछ किया गया था और विशेषरूपसे यह जानें कि चूँकि दुनियामें देखते हैं कि यह जीव सत् है। है और हूं का व्यवहार भी होता है। यह है, वह गया आदिक क्रियाओंसे भी विदित होता है कि जीव सत् है और दार्शनिक दृष्टियोंसे सत्। अद्वैतवादियोंने इसको ऐसा सत् मान लिया कि यह आत्मा विभक्त सत् नहीं है, अंशरूप सत् नहीं है; किन्तु महासत् रूप है, जिसे कहते हैं विश्वरूप है। ऐसा कुछ दार्शनिकोंसे सुना, उस आधारपर इसकी जिज्ञासा हुई है कि आत्मा क्या सत् है ? इस प्रकार यह जिज्ञासा जिसको उत्पन्न हुई है वह पुरुष समझ तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहा है इस विषयमें कुछ-कुछ, क्योंकि संशय ज्ञान तब तक नहीं हो पाता जब तक कि उन दोनों धर्मोंके बारेमें कुछ बोध न हो। जितनी कोटियोंमें संशयज्ञान हुआ करता है, उन सब कोटियोंका उसे ज्ञान है तब संशय हो सकता है। वही पुरुष तो संशय कर सकता है जो कुछ सीप होती है, कुछ चाँदी होती है ऐसा समझा हुआ हो। तो इस जिज्ञासुने समझी तो है आत्माके बारेमें सत्त्व और असत्त्वकी बात, लेकिन निर्णय नहीं कर पाया, इस कारण यह जिज्ञासा हुई है कि आत्मा सत् है या असत् ?

आत्माके सत्त्व-असत्त्वविषयक त्रयोदशी जिज्ञासाका समाधान—अब उक्त उभयप्रश्न विकल्पवाली जिज्ञासाका समाधान देते हैं कि आत्मा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा से सत् है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे असत् है। इस आत्मामें अनेक असत्त्व भी परिचयमें आ रहे हैं, लेकिन उन असत्त्वोंकी ओर तो दृष्टि जिसकी हो गयी और स्व-चतुष्टयसे सत्त्वकी दृष्टि जिसके नहीं रही ऐसा पुरुष इस आत्माको सर्वथा असत् भी कह सकता है। और जिस पुरुषको स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके सत्त्वकी दृष्टि रही और वहाँ जब स्वविशेषण हट जाता है, है ही सत्, ऐसा अंगीकार किया और बढ़कर परके द्रव्य क्षेत्र आदिकसे असत् है यह भी ध्यान छोड़ दिया, ऐसे पुरुषको ये दोनों सर्व सत्‌रूप नजर आते हैं, किन्तु है अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत्। जैसे कि बताये कोई कि यह पुस्तक सत् है या असत् है अर्थात् है या नहीं है, ये दो प्रश्न विकल्प किए जायें तो जिनकी बाहरी चीजोंपर दृष्टि है वे कहते हैं कि नहीं है। क्या नहीं है ? उसके समझ है, वह भीतर अन्तर्जल्पमें बोल देता है। चौकी, भींत आदिक नहीं हैं। अब जो उसका गुप्त ज्ञान है उसकी तो दृष्टि इसने लिया नहीं और इतना ही सुनकर बड़े लोगोंने बताया कि नहीं है और वह नहीं का एकान्त कर दे तो तथ्य तो न निकलेगा और कोई इस पुस्तकको सत् ही बताये यह है ही है, इसमें "न" कतई नहीं है, तो इसके मायने हैं कि पुस्तक पुस्तक भी है, भींत भी है और सब कुछ भी है, तो भी बात नहीं बनती। फिर पढ़नेका काम कैसे किया जा सकेगा ? क्योंकि वह पुस्तक तो भींत आदिक भी बन गई। फिर तो वह पुस्तक सिर फोड़नेका काम भी करने लगेगी। तो पुस्तक पुस्तक रूप है, इसके अतिरिक्त अन्य सबसे असत् है। यदि पदार्थमें अन्यका असत्त्व नहीं हो तो अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। वस्तु स्वरूप न रख सकेगा, ऐसा सत्त्व असत्त्व प्रत्येक पदार्थ में है। अपने सत्त्वसे सत्त्व है और परके सत्त्वसे असत्त्व है।

वस्तुकी सदसदात्मकताका निर्णय—सत् और असत्‌के एकान्तमें अनेक दार्शनिकोंने अपने मंतव्य गढ़े हैं। जितने भी दर्शन हैं अन्य एकान्तवादियोंके उनको परीक्षा करने पर यह विदित होगा कि इनकी सत् असत्‌के बारेमें यहां इतनी भर भूल हुई सत् और असत्‌की

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ही किसी त्रुटिके कारण कुवादोंकी उत्पत्ति हुई है। ये सत् असत् केवल एक रूपसे नहीं, द्रव्यरूपसे सत्, क्षेत्र रूपसे सत्, कालसे सत, भावसे सत् और उसके प्रतिपक्षी परद्रव्यसे असत्, परक्षेत्रसे असत्, परकालसे असत्, परभावसे असत्, इस तरह ये ८ कोटियाँ हो गईं। इनके खण्डसे अनेक कुवादोंकी उत्पत्ति हुई। तो वस्तुका स्वरूप बनता है– स्वचतुष्टयसे सत् और परचतुष्टयसे असत् होने के कारण। यह बात प्रत्येक पदार्थमें स्वरसतः बनी हुई है। जो भी है वह नियमसे सदसदात्मक है। यदि सदसदात्मक नहीं है तो है ही नहीं वह कुछ। कल्पना कर लो एक अपने आपके अस्तित्वकी बात सोचना है। मैं हूं और इस मैं को माना मनुष्यरूपसे। सोचा कि मैं मनुष्य हूँ। तो मैं मनुष्यरूप कब हूं? कब मैं मनुष्य रह सकता हूं? तभी तो जब कि मैं घोड़ा बिल्ली, गिलहरी, छपकली आदिक नहीं हूं। यदि मैं जैसे मनुष्य हूं वैसे गिलहरी, छिपकली पशुपक्षी आदिक होऊं तो फिर मैं क्या रहा? फिर लोग मुझे किस रूपमें देखेंगे? मनुष्यरूपमें देखेंगे या पशुपक्षी रूपमें? जब मैं सर्वात्मक हो गया तो मैं क्या रहा? तो इस दृढ़ निश्चयके साथ यह बात है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे सत् है और परसे असत् है, यह बात त्रैकालिक है। ऐसा नहीं है कि प्रायः करके ऐसे हों और किसी समयमें कोई और कुछ थोड़ी देरको बन जाता हो, ऐसा होनेसे इसमें तो बड़ा धोखा हो जायगा। यदि निश्चय ही हो कि मैं सर्वात्मक हूं तो उससे किसीको प्राणहारी धोखा नहीं होगा, किन्तु अभी यहाँ बैठा हूं और कदाचित् सिंहादिक क्रूर जानवर हो जाऊँ तो फिर यहाँ बैठने वाले लोगोंका क्या हाल होगा? यदि कदाचित् मैं अन्यरूप हो जाऊँ तो वह और ही बुरा है। तो यह निर्णय है कि मैं मैं ही हूं, अन्य नहीं हूं।

वस्तुके यथार्थ सदसदात्मकत्वके निर्णयका लाभ—प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही सत् है, परस्वरूपसे असत् है इस निर्णयमें तो बड़ी ज्ञानकी बातें भरी हुई हैं। जो लोग ममता कर रहे हैं किसी भी वस्तुमें परिवारमें या अचेतन पदार्थोंमें उनकी ममताका भी कारण इसी सत् असत्का अनिर्णय है। क्यों होती है ममता कि यह घर मेरा है? यों हो रही है अज्ञानीको ममता कि उस अज्ञानीने यह निर्णय नहीं किया है कि मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही सत् हूं परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत् हूं। यहाँ उसके कर्तृत्व, कर्मत्व, अधिकरणत्व आदिक सभी षट्कारक उसके उसमें ही हैं, अन्यमें नहीं हैं। यह ज्ञानीका निर्णय है। यह निर्णय नहीं है अज्ञानीको तब वह वहाँ कल्पनायें करता है कि घर मेरा आधार है, मेरे लिए घर है। मैं इस घरका कर्ता हूं, मेरा घर कर्म है, सारे कारक लगा रखे हैं इस अज्ञानी ने, परवस्तुके साथ तब ही तो इसे ममता होती है। तो ममताके छेदका भी उपाय यह है कि यह दृढ़ निर्णय कर लेना चाहिए कि मैं अपने स्वरूपसे सत् हूं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और पररूपसे असत हूं, मैं अपने द्रव्यसे सत हूं, इसका भाव यह है कि मैं गुणपर्यायोंका पिण्ड हूं, मेरेमें अनन्त शक्तियाँ हैं और उनके परिणमन, पर्याय होते हैं। उन गुण और पर्यायोंस्वरूप मैं हूं। मैं दूसरे पदार्थके गुण पर्यायरूप नहीं हूं। देखिये इस सत असतके निर्णयसे सारी हैरानी खतम हो जाती है। हैरानी जितनी भी किसीको कभी भी आती है तो इसी सत्त्व असत्त्वके निर्णयमें कमी होनेसे आती है। जब मैं सदा अपनी गुणपर्यायोंरूप ही रहा आया, इसही रूप रहूंगा तो इस मुझका मेरे प्रदेशोंसे बाहर मेरा कहीं क्या रखा है ? जिस देहमें एक क्षेत्रावगाहरूपसे रह रहा हूं वह भी मेरे प्रदेशोंसे बाहर है। यद्यपि प्रदेशोंमें ही देह है। जहाँ देह है वहीं प्रदेश है, एक क्षेत्रावगाह है, लेकिन जैसे लोग एक घरमें रहने वाले दो भाइयोंने जिनकी आपसमें बनती न हो, एक घरमें रह रहे हैं, तो एक घरमें रहते हुए भी लोग बताते हैं कि वे एक जगह नहीं रह रहे हैं, क्योंकि उनमें बनती नहीं है। एकके विचार और हैं, एकके विचार और हैं तो लोग कहते हैं ना कि एक घरमें रह तो रहे हैं पर वे भाई एक जगह नहीं हैं। वह उससे अलग है, वह उससे अलग है। तो ऐसे ही एक आकाशक्षेत्रमें रह रहे हैं ये दोनों और ऐसे दोनों रह रहे हैं कि जैसे विपदा आनेपर दोनों भाई एक साथ ही कहीं जायेंगे, फिर भी वे दोनों भाई एक जगह नहीं हैं। इसी तरह मरण होनेपर या कहीं जानेपर ये दोनों आत्मा और शरीर एक साथ जायेंगे, ऐसे एक क्षेत्रावगाही हैं देह व आत्मा अभी, फिर भी ये दोनों एक जगह नहीं हैं, क्योंकि जीवका स्वरूप और है, देहका स्वरूप और है। भले ही एक क्षेत्रमें रह रहे हैं, मगर आत्मस्वरूपसे दूर है शरीर और शरीरसे दूर है आत्मस्वरूप। तो तथ्य दृष्टिसे जिसने सत्त्व असत्त्वका निर्णय किया है उसको हैरानीमें कभी आ जायगी ! करना है साहसके साथ यह काम कि परके सम्बन्धमें सम्बन्धका उपयोग न रहे और मैं अपनेको सबसे निराला केवल चैतन्यमात्र अनुभवमें लूं। देखिये यही है एक महारत्नत्रय, यही है सर्वस्व वैभव, ऐसा अपने आपको विचारमें लें, चिन्तनमें लें तो यह होगी हमारे कल्याणकी चीज। तो परसम्बन्ध मिटे ऐसा ज्ञान होनेमें यह सदसदात्मकताका निर्णय सहयोगी हो रहा है।

क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे भी आत्माकी अन्य सबसे विविक्तता— देखिये—एक वस्तुको स्वरूपसे सत् पररूपसे असत् कहा, उसीमें सब आ जाता है निर्णय, फिर भी विशेषताके साथ भिन्न-भिन्न पद्धतियोंसे कहना आवश्यक है, सो यहाँ परखिये—यह मैं आत्मा अपने क्षेत्रसे सत् हूँ, परके क्षेत्रसे असत् हूँ। परका क्षेत्र भी यहां आकाश क्षेत्र नहीं कह रहे हैं। किन्तु परद्रव्यके द्रव्यका और स्वयंका निजी क्षेत्र है। जैसे अपने आपका उस परद्रव्यने अवगाहन किया है। उसके निजी क्षेत्रकी बात कह रहे हैं उसपर कि निजीक्षेत्रसे भी मैं सत् हूं, मैं अपने ही क्षेत्रसे सत् हूं, अपने ही प्रदेशसे हूं। मुझमें एक क्षेत्रावगाहरूपसे यह देह भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

रह रहा, आत्मा भी रह रहा, फिर भी देहका निज क्षेत्र देहमें है और मेरा क्षेत्र मुझमें है। मैं परके क्षेत्रसे सत नहीं हूं। मैं आत्मा स्वकालसे सत हूं, परकालसे सत नहीं हूं। कालके मायने परिणमन, दशा, पर्याय। दूसरेकी दशासे भी मैं नहीं हूं, मैं अपनी ही अवस्थासे हूं, अपनी ही परिणतिसे परिणमता रहता हूं, दूसरेकी परिणतिसे मैं नहीं परिणमता। यह कहलाया स्वकालसे सत और परकालसे असत् होना, इसके निर्णयमें कितनी ही परेशानियाँ खतम हो जाती हैं। अरे मैं किसी पदार्थको कुछ परिणमा नहीं सकता, फिर किसीको कुछ परिणमानेका मेरेमें आग्रह क्यों होता है ? यह मिथ्या अध्यवसाय है। यह मेरी बरबादीका हेतुभूत है, क्यों हो रहा है किसी भी परमें अपनी इच्छानुसार परिणमानेका आग्रह ? अरे न परिणमानेका आग्रह रहे और न उस प्रकार परिणमानेकी इच्छा रहे, दोनोंसे निराला होकर मैं अपने स्वतंत्र स्वभावरूप निजतत्त्वका अनुभव करूँ। जब मैं किसीकी परिणतिको कर ही नहीं सकता, तब किसीमें क्यों आग्रह हो ? जब कोई परपदार्थ मेरी किसी परिणति को कर ही नहीं सकता, किसी परसे मेरा सुधार नहीं। मैं ही स्वयं रह जाऊँ, अकेला रह जाऊँ; अकेला ही बना रहूं, अकेला मैं अकेलेका वैभव भोगूं उसमें तो मुझे सर्वस्व वैभव मिलेगा और जहाँ किसी पर कालसे अपने आपका सम्बन्ध जोड़ा वहाँ यह रीता हो जायगा। मैं अपने ही परिणमनसे परिणमता हूं, किसी परके परिणमनसे मैं नहीं परिणम रहा। यह निरखा गया स्वकालसे सत और परकालसे असत होनेकी बातमें।

भावापेक्षया भी मेरा अन्य सबसे विविक्तत्व— अब भावकी अपेक्षा देखिये—मैं अपने भावसे सत हूं, परभावोंसे असत हूं। मेरा भाव, मेरा गुण, धर्म, स्वभाव, शक्ति, उनसे मैं सत हूं, परके भाव, परके गुण, परकी शक्तियोंसे मैं असत हूं, ऐसा यह निर्णय भी सारी विडम्बनाओंका समाधान कर देता है। अज्ञानी जीव तो परपदार्थमें ऐसे अद्वैतवादकी तरह एकत्व बुद्धि कर रहा है कि वह अपने सत्वको कुछ पृथक् समझ ही नहीं पाता है तो परसे पृथक् समझ न हो और परभावोंसे अपनेको सत बना लेना, इन दोनोंका एक ही अर्थ है। तो मैं स्वभावसे सत हूँ, परभावसे असत हूं, अपनी शक्तियाँ और धर्मोंसे ही मेरा सत्व है, परकी शक्तियों और धर्मोंसे मेरा सत्व नहीं है। जब स्वभाव ही निराला निराला है तब इनका मेल कैसे हो सकता है ? देह और जीवके मेल न होनेके सम्बन्धमें अन्यत्वभावनामें बताया है— जल पय ज्यों जियतन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहीं मेला। जैसे दूध और जल ये दोनो मिले हैं इस प्रकारसे ये जीव और शरीर मिले हुए हैं, पर वस्तुतः भिन्न-भिन्न हैं, भेले नहीं हैं, एकरस नहीं हैं, निराले-निराले हैं। जीव जुदा शरीर जुदा। जिसको अपना कल्याण चाहिए हो उसको यह निर्णय तो कर ही लेना चाहिए कि जीव जुदा है, मैं जुदा हूं, देह जुदा है। यह निर्णय होनेपर फिर बहुतसे विवाद सुलझ जाते हैं। सम्पर्कमें परि-

http://sahjanandvarnishastra.org/

बार जनोंसे, मित्रजनोंसे जरा-जरा सी बातपर जो कलह उत्पन्न होती है वह फिर न रहेगी। जहाँ यह जान लिया कि मैं तो इस देहसे भी निराला हूं। कलह हुआ करती है कोई बाहरी बातके कारण। निज-निज बातके लिए कलह नहीं हुआ करती। जैसे पहिले हजारों मुनियोंका संघ एक साथ रहता था, वे सब निज-निज बातके लिए थे, इसलिए उनमें कभी कलह नहीं होता था। यदि परकी बातके लिए कोई बनता तो वहाँ कलहका स्रोत बन जाता। तो सभी पदार्थ अपने-अपने भावके लिए भावको लिए हुए सत हैं। जब ऐसी बात है तब किसी भी पदार्थसे मेरा सम्बन्ध क्या रहा ? कुछ भी सम्बन्ध न रहा।

अपनी परविविक्तताकी प्रतीतिमें ही आत्महितकी संभवता—आत्महितार्थीको यह निर्णय करना ही होगा कि मैं देहसे निराला आत्मा हूं। इस लोकमें कोई किसीके सुख दु:खका साथी न होगा, न है, न कभी हुआ। मोहमें भले ही कुछ लोग कहते हैं कि मैं इसके दु:खमें साथी हूं, मैं इसकी विपत्तिमें सहायक हूं। सहायक होंगे वे कब तक ? जब तक कि उसके पुण्यका उदय है, सो बन जायेंगे निमित्त और दु:खमें भी साथी होनेकी अपनी बात दिखायेंगे, लेकिन वस्तुत: स्वयं का ही पुण्य स्वयंको साधक है तब दूसरेकी करतूत मेरे लिए साधक हो रही है। तो जब ऐसा यह वीरान जंगल है जहां कोई किसीकी बात नहीं पूछ सकता है ऐसे वीरान जंगलमें पड़े हुए हम ऐसे इस अशरण असार संसारमें पड़े हुए हम व्यर्थकी कल्पनायें दौड़ायें, उससे कुछ लाभ नहीं होनेका। सोचना होगा अपने आत्माका उद्धार करना, इससे बढ़कर दुनियामें कोई काम है क्या ? अनादिकालसे न जाने क्या-क्या होते आये– बड़े-बड़े राजा महाराजा हुए, बड़ी-बड़ी ऋद्धियां पायीं, सब कुछ भोगा, मगर आज रीते नजर आ रहे कि नहीं। पहिलेका पाया हुआ कुछ नहीं है और वर्तमानमें भी कोई शान्ति नहीं है। यह सब परिग्रह ग्रहका संताप है। ग्रह कहते हैं पिशाचको। यह परिग्रह पिशाचका सारा प्रताप है कि हम रीते बने हुए हैं, भरे पूरे नहीं हैं। भरे पूरे तो वे मुनिजन हैं जो अपने ज्ञानोपयोगमें अपने इस पवित्र ज्ञानस्वरूपको अनुभव रहे हैं। वह ऐसा भरापूरा है कि जिस बातको वह भी जाहिर नहीं कर सकता, क्योंकि अधजल गगरी छलकेगी, पर भरी पूरी गगरी छलकेगी नहीं, क्षोभ उसमें नहीं होता। जहाँ अधूरापन है, कुछ बात करनेकी चतुराई आ गई या कुछ विज्ञान सीख लिया तो ये सब क्या हैं ? ये सब अधूरी विद्यायें हैं। जीवका स्वरूप तो केवल ज्ञानज्योति है। केवल रहे तो क्या मिला ? सारा लोक मिलेगा। और जो कुछमें लगा उसको क्या मिलेगा ? कुछ भी न मिलेगा। भोजन करते समय भोजन करने वाला न न करे तो उसको प्रीतिसे भोजन अधिक उपस्थित होगा, चाहेगा भी नहीं। लो दोनों ही खुश हैं, परोसने वाला भी और यह खाने वाला भी। किस बातपर यह बात बनी ?…एक उसके न न पर, और यदि उसमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हाँ हाँ की अधिकता जगी--यह लावो, वह लावो···तो परोसने वाला भी झुँझलायेगा और खाने वाला भी झुंझलायेगा। तो जैसे यहाँ न, न करनेसे भोजन जैसी चीज भी खूब आदर से प्राप्त होती है ऐसे ही परमार्थसे भी परपदार्थोंके प्रति न, न की बात चित्तमें आये तो यह भी भरपूर रहेगा, खुश रहेगा और उसके प्रसंगमें जितने भक्तजन होंगे वे भी भरपूर हो जायेंगे, वे भी प्रसन्न हो जायेंगे।

आत्माके सदसदात्मकत्वके ज्ञानप्रकाशसे श्रेयोमार्गमें कदम बढ़ानेका अनुरोध—इस जीवने अब तक अपने स्वभावसे सत्त्व की बात नहीं निरखी और परभावोंसे असत्त्वकी बात नहीं निरखी, इसी कारण यह अहंकार, ममकार आदिक भावोंमें बड़ी तेजीसे दौड़ लगा रहा है। तो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत् होना और परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत होना, इसका ज्ञान होनेमें अपने उद्धारका मूलभूत सारा ज्ञानप्रकाश आ जाता है। यही नहीं किया अब तक। धर्मके नामपर पूजा भी करें, वन्दना भी करें, यात्रा भी करें, उपवास भी करें, सब कुछ करें और उनके साथ यदि यह सत्त्व असत्त्वकी दृष्टि नहीं है कि अपने ही चतुष्टयसे सत् हूं, परके चतुष्टयसे असत् हूं, इसका निर्णय नहीं है तो ऐसा धर्म-कार्य करते हुए भी परके साथ वह लगाव ही लगा रहा है, किन्तु बिलगावरूप धर्मकी प्राप्ति उसके नहीं होती। जब समझमें आये तब ऐसा निर्णय करके चलें कि हमें तो सबसे पहिले यह काम करना है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही सत् हूं, परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही असत् ही हूं, इस ज्ञानप्रकाशको हमें मजबूत बनाना है। जिसके आधारपर नियमसे हैरानी दूर होगी, परेशानी दूर होगी, संकट भी समाप्त हो जायेंगे, आत्माका वास्तविक तथ्यभूत कल्याण हो जायगा।

चतुर्दशी जिज्ञासामें एक ही द्रव्यमें सत् असत् जाननेकी जिज्ञासुकी उत्सुकता—वस्तु-स्वरूपकी व्यवस्थाके लिये सत्त्व असत्त्वका वर्णन चल रहा था, जिसमें यह बताया गया कि प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है और परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है. इस बातको युक्तियों पूर्वक और अनुभवपूर्वक सिद्ध किया गया था। अब १४वीं जिज्ञासा में यह जाननेका उद्यम हो रहा है कि अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे आत्मा सत् है, यह ठीक तरह समझ लिया गया, और उन चारोंमें भी जो द्रव्यसे सत् है वही क्षेत्र, काल, भावसे असत् है, जो क्षेत्रसे सत् है वही द्रव्य काल भावसे असत् है, जो कालसे सत् वही द्रव्य क्षेत्र भावसे असत् है, जो भावसे सत् है वह द्रव्य क्षेत्र कालसे असत् है, ऐसी विधियोंसे भी समझा जा सकता है, लेकिन क्या कोई ऐसी भी गुंजाइश है कि वस्तु अपने द्रव्यसे ही सत् हो और अपने ही द्रव्यसे असत् हो? बात सुननेमें कुछ बेढ़ब लग रही है कि कहीं ऐसा हो सकता है क्या कि अपने ही द्रव्यसे सत है और अपने ही द्रव्यसे असत् है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लेकिन यह जिज्ञासु थोड़ा इस आग्रहपर डट गया कि मुझे तो अनेकान्तात्मकता, स्याद्वाद एक ही वस्तुमें बताइये कि वस्तु अपने ही द्रव्यसे सत् है और अपने ही द्रव्यसे असत् है।

एक आत्मामें अभेदपद्धति व भेदपद्धतिसे लक्षित स्व परका विभाग करके सत्त्व असत्त्वका घटन—लो चलो अब स्याद्वादकी कलासे यह बात जाननेके लिए कि वस्तु अपने द्रव्यसे सत् है व अपने ही द्रव्यसे असत् है, इस जिज्ञासाका हल करनेके लिए अपने ही द्रव्य में स्व और परका विभाग करना होगा। द्रव्यका लक्षण बताया गया है सिद्धान्त शास्त्रमें कि जो गुणपर्यायवाला हो वह द्रव्य कहलाता है। गुणपर्ययवत् द्रव्यं, ऐसा तत्त्वार्थसूत्रका वचन है। तो गुणपर्याय आदिक कुछ एक अभेदरूपसे दीखा, वह द्रव्य समझमें आया कि यह निश्चय पद्धतिसे समझा गया द्रव्य है, और चूंकि गुणपर्यायात्मक है द्रव्य, तो उस द्रव्यकी हमें कोई पर्याय भी जाननी चाहिये, तब तो हम द्रव्यको समझ सकेंगे। तो अब गुणपर्यायोंको जानने जब चलेंगे तब तो उनका वहाँ बड़ा विस्तार है। अनन्त गुण हैं, उनकी उतनी ही पर्यायें हैं। तो जब गुण और पर्यायोंको भेदरूपसे भिन्न-भिन्न ढंगोंसे जानने चले तब भी द्रव्य ही जाना गया कि और कुछ? यही द्रव्य जाना गया। हाँ यह जाना गया व्यवहारदृष्टिसे, भेदपद्धतिसे द्रव्य। अब इन दोनोंमें से अर्थात् अभेदविधिसे जाना गया द्रव्य और भेदविधिसे जाना गया द्रव्य ये दो परस्पर प्रतिपक्षी हो गए, क्योंकि अभेद विधिसे जाने गए द्रव्यका जो स्वरूप है, जो उसकी मुद्रा है, उससे भिन्न मुद्रा है भेदपद्धतिसे जाने गए द्रव्यकी। तब जिस समय अभेदपद्धतिसे जाने गये द्रव्यको सत् कहा जा रहा है कि अभेद-द्रव्यसे सत् है तो उस समय यह बात सिद्ध हो गयी कि भेद द्रव्यसे असत् है। भेदपद्धतिसे समझा गया जो कुछ द्रव्य है उस ढंगका तो यह नहीं है। सत् और असत्में है और नहीं ही तो जानना है। तो जब अखण्ड द्रव्यकी दृष्टिसे वस्तु सत् है तो वह खण्ड द्रव्यदृष्टिसे असत् है। इस प्रकार जब दूसरी दिशामें विचार करते हैं कि हमको तो यह समझमें आ रहा कि द्रव्य अनन्त गुणरूप है, अनन्त पर्यायरूप है, इस तरह देखा गया द्रव्य है, सो सही बात है। यों खण्ड द्रव्य दृष्टिसे जो सत् है वह उस समय उस मुद्रामें अखण्ड द्रव्यसे असत् है। जो समझा गया खण्ड द्रव्यदृष्टिमें, वह तत्त्व तो नहीं है, जो अखण्ड दृष्टिमें परखा गया था। तो यों स्वद्रव्यसे ही सत् हुए, स्वद्रव्यसे ही असत् हुए। उस ही स्वद्रव्यमें अभेदविधि व भेदविधिका विभाग करके स्व और पर बन गया। तो स्वद्रव्यसे सत् है, स्वद्रव्यसे असत् है, इसमें भी झलक यह आयी कि स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है। असत्का अर्थ है—नहीं। तो अब पुनः इसको निरखें कि अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे जो अभेद द्रव्य प्रतीत हुआ वह प्रतीत तत्त्व खण्ड तो नहीं है, भेदवाला तो नहीं है? हाँ नहीं है। चाहे उस ही द्रव्यका भेद करके खण्ड करके जाना गया, समझाया गया तो उस समय जो प्रतीतिमें आया है वह ऐसा तो नहीं है कि जो अखण्ड द्रव्यदृष्टिमें समझा गया था। नहीं है, तो बस है और नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है इन दोनोंको ही तो सत् असत् कहा करते हैं। इस तरह स्वद्रव्यमें भी, स्वपर विभाग करके वहाँ सत् और असत्का निर्णय किया गया है।

अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे ज्ञात सत्की ओर तत्वज्ञ का प्रधानतया उपयोग—इस प्रसंगमें ध्यानमें लेने योग्य एक बात और भी है कि जैसे जब हम किसी वस्तुको जानते हैं कि स्व-चतुष्टयसे सत् है, पर चतुष्टयसे असत् है तो इसमें प्रयोजनवश दोनों ही बातें माननेके काबिल हैं, फिर भी मुकाबला करके निरखा जाय कि हमारे हितके लिए हम किस विकल्पकी ओर ज्यादह मुड़कर निर्विकल्प बन सकेंगे तो यह ज्यादह मुक्त होगा कि स्वचतुष्टयसे सत है, इसकी ओर ज्यादह ढलो। यद्यपि तथ्यभूत दोनो हैं, पर चतुष्टयसे असत् है, यह भी ठीक है, स्व चतुष्टयसे सत् है यह भी तथ्यभूत है, फिर भी एक निर्विकल्पक ध्यानकी धुन बनाने वाला योगी पुरुष अधिकतर इस मार्गसे अन्तः बढ़े तो वह बड़ी सुगमतया अपनी अन्तः परमार्थ यात्रा करने लगेगा। आत्मा स्वरूपसे सत् है, फिर भी पररूपसे असत् है। यह भी आवश्यक है। जिस समय मोह रागद्वेष सता रहे हों और किसी प्रकारकी हैरानी, परेशानी हो रही हो उस समय पररूपसे असत् है, इस प्रकारका ज्ञान कितनी बड़ी मदद करता है इस जीवको आनन्दधाममें ले जानेके लिए? तो यों भी कह सकते कि पररूपसे असत् है इस ज्ञानचन्द्र ने तो स्वरूपसे सत् है इसका दर्शन कराया और स्वरूपसे सत् है इस ज्ञानचन्द्र ने हमको निर्विकल्पधाममें पहुंचनेमें सहयोग दिया। इस तरह जैसे हम प्रयोजनवश इनमें विभाग कर सकते हैं, इस प्रकार यहाँ जो स्वपरकी बात कही गई है कि अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत् है और खण्ड द्रव्यदृष्टिसे असत् है। इन दो में हम दोनोंका मुकाबिला करें, हम किस का विशेष आश्रय करके कल्याणपथमें पहुंचे? तो वहाँ भी यही उत्तर होगा कि अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत् है, इसमें जो प्रतीति हुई है उसका आश्रय करके अपने अन्तः बढ़ें। यहाँ भी वही हालत है कि खण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत् है इस ज्ञानप्रकाशने तो अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत् है, इसका परिचय करानेमें सहयोग दिया और अखण्ड द्रव्य दृष्टिसे सत् है इस ज्ञानविकल्पने निर्विकल्प स्थितिमें पहुंचानेके लिए सहयोग दिया। अब दूसरी दिशाकी बात देखिये—जहाँ यह निर्णय है कि वस्तु खण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत् है वह अखण्ड द्रव्य दृष्टिसे असत् है यह समझानेके लिए और व्यवहारदृष्टिके द्वारा उसे कुछ आगे बढ़ानेके लिए यह कथन है, इस कथनसे जो अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे असत् कहा गया है उससे भी हमें यह प्रेरणा मिलती है कि यह तो खण्ड द्रव्यदृष्टिसे देखा गया सत् है। यहाँ ही हमें नहीं अटकना है? यों कि वह अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे असत् है। तब हमें क्या करना कि खण्ड द्रव्यदृष्टिसे सत्को जानकर यह अटकनेके लिये नहीं है ऐसा विवेककर अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे जो सत् है उसे प्रतीतिमें पहुंचना है। जो कल्याणका धाम है वह स्थान एक ही है। चाहे प्रथम साइडसे चलकर बढ़ें और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चाहे दूसरी साइडसे चलकर बढ़ें, उस सकरी गलीसे सावधानीपूर्वक चुपचाप ही चलनेसे कल्याणधाममें पहुंचना होगा। यों स्वद्रव्यसे ही सत है, इसमें भी स्वपर विभाग करके सत और असतका कथन युक्त बैठ जाते हैं।

स्वक्षेत्रमें भी सत्व असत्व जाननेकी इच्छा—अब १५ वीं जिज्ञासामें यह जाननेका उपक्रम किया जा रहा है कि जैसे आत्मा स्वद्रव्यसे सत् है और परद्रव्यसे असत् है, इस तरहका विवक्षासे परिज्ञान कराया गया तथा स्वद्रव्यमें भी स्वद्रव्यसे सत असतका परिज्ञान कराया गया था, क्या इस ही तरहसे स्वक्षेत्रकी भी बात हो सकेगी कि पदार्थ स्वक्षेत्रसे सत है और स्वक्षेत्रसे असत है, इस प्रसंगमें क्षेत्रका अर्थ आकाशक्षेत्रसे नहीं लेना है, वह परक्षेत्र है। केवल एक पदार्थकी दृष्टि चल रही है, और एक ही पदार्थमें स्याद्वाद विधिसे निरखनेकी बात चल रही है, तो आत्मा अपने क्षेत्रसे सत है जिसको सिद्ध किया गया था कि आत्मा असंख्यातप्रदेशी है। जो आत्माका गुण समुदाय है वही प्रदेशपनेको प्राप्त है उसकी दृष्टिसे आत्मा सत है और अन्य पदार्थोंके प्रदेशकी दृष्टिसे असत है। तो जो स्व-क्षेत्रकी अपेक्षासे सत कहा गया था उसमें यह जिज्ञासा हो रही है कि स्वक्षेत्रकी अपेक्षा से भी सत और असत क्या ये दोनों बातें सम्भव हो सकती हैं?

आत्माके स्वक्षेत्रका अखण्डक्षेत्र व खण्डक्षेत्रका निश्चय व्यवहारपद्धतिमें विभाग—उक्त जिज्ञासाका समाधान भी हम उसी प्रकारकी दो पद्धतियोंसे पा सकेंगे--भेदपद्धति और अभेदपद्धति। स्वक्षेत्रको जब अभेदपद्धतिसे देखा जाता है तब अखण्डैकक्षेत्री विदित होता है, जब ही भेदपद्धतिसे आत्माके प्रदेश, स्वक्षेत्रको निरखा जाता है तब वहाँ असंख्यातप्रदेश विदित होते हैं। सो जब अखण्ड क्षेत्रको स्वरूपसे देखा जाता है तो भेदपद्धतिमें उस ही को पररूपसे देखा जा रहा है। भेदविधिसे तो नजर आयगा ही खण्ड क्षेत्र। जैसे—अभेदविधि से स्वक्षेत्रको देखा जाय तो क्या कोई यह कह सकेगा कि आत्मा असंख्यातप्रदेशी है? कभी नहीं कह सकता। जब उसने अखण्ड क्षेत्रकी दृष्टि की है तो उसके लिए तो एक दिखेगा, प्रदेशकी भी बात नहीं है, एक क्षेत्री है, पूरा है। जैसे कोई एक बाँसको लिए जा रहा है तो कहीं उसकी दृष्टि प्रत्येक पोरपर तो नहीं रहती है कि मैं ये इतने पोर लिए जा रहा हूं। वह तो ऐसी ही दृष्टि रखता है कि मैं यह पूरा एक बाँस लिए जा रहा हूं। देखने वाले लोगोंकी भी ऐसी दृष्टि नहीं रहती कि यह देखो इतने पोर लिए जा रहा है। वे तो ऐसी ही दृष्टि रखते हैं कि यह तो एक बाँस लिए जा रहा है। तो लो—जिसका जो प्रयो-जन है उस प्रयोजनसे वह वस्तु अखण्ड दिखी, वहाँ भी खण्ड पोर नजर नहीं आता। और जब मान लो किसीको दांत कुदेरनेकी सींक निकालनी है उस बांसमें से तो उसे वह अखण्ड न दीखेगा, उसे तो पोर नजर आयगा। इस पोरमें से तोड़ा, इसे छीला, इसमें से सींक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निकाला, ये सींक १०) रुपये की बिक जायेंगी। तो जिस दृष्टिसे निहारना हुआ उस दृष्टि से वही नजर आया। जब इस आत्माके क्षेत्रको निहारनेमें लिए चले तो अभेदपद्धतिसे निरखनेपर तो अखण्डक्षेत्री आत्मा दृष्टिमें आया तथा जब स्वक्षेत्रको ही भीतर खण्डदृष्टिसे देखने चले तो वहां असंख्यात प्रदेश नजर आये। आत्मा असंख्यातप्रदेशी है। लो इतने बडे शरीरमें हम रह रहे हैं तो मैं इतने क्षेत्रमें रह रहा हूं ना, सो इतने विशाल क्षेत्रमें जो मैं घिरा हूं तो प्रदेश मेरेमें बहुत हैं। एक अविभागी क्षेत्रके हिस्सेका नाम प्रदेश है। वहां इतना तो जानते ही हैं कि हम साढ़े तीन हाथके हैं, तो जब साढ़े तीन हाथके हैं तो जितनी अंगुली हैं उतने मापमें मान लो। ६० अंगुलका शरीर है। जब ६० अंगुलका है यह आत्मा तो एक अंगुलमें कितने ही सूत भी होते हैं। मानो एक अँगुलमें ५ सूत आये तो कहा जायगा कि ३०० सूत प्रमाण है। जब सूत है तो सूतमें भी बहुतसे विभाग हैं। यों कितने विभागोंमें फैला हुआ है यह आत्मा? खण्ड दृष्टिसे ऐसा दृष्टिमें आयगा।

अखण्डक्षेत्रसे सत व खण्डक्षेत्रसे असत तथा खण्डक्षेत्रसे सत व अखण्डक्षेत्रसे असत आत्माकी निरख—स्वक्षेत्रको सप्रतिपक्षताके ढंगसे आमने-सामने रखकर निर्णय दिया जाय कि खण्ड क्षेत्रदृष्टिसे जो आत्मा सत है क्या वह खण्ड क्षेत्रदृष्टिसे? सत है नहीं है। उस दृष्टिमें और कुछ जाना गया, इस दृष्टिमें और कुछ जाना गया। दृष्टिका ही तो प्रताप है। जिस समय किसी माँ के बेटेकी बरात रवाना होती है तो रवाना होनेसे पहिले दरवाजेपर उस बेटेकी माँ उसकी बलइयाँ लेती है। उस वक्तमें माँ अपने उस बच्चेको देखकर नहीं अघाती। अरे १८-२० वर्ष तक उसका पालन पोषण किया तब तो बलइयाँ नहीं ली- उसकी बारात जाते समय बलइयाँ क्यों ली? इसलिए कि उस समयकी दृष्टि उसकी कुछ उत्सुकता को लिये और ढंगकी है। पहिले उसकी दृष्टि और ढंगकी रहा करती थी। तो देखिये यहाँ एक दृष्टिका ही तो फेर है। जिस समय जो जैसी दृष्टि करता है उसको बाहरमें वैसी ही चीज दिखती है। इस तरह जब हम अपने आत्माको निरखते हैं तो उस आत्माको जब हम अभेद पद्धतिसे देखें तब उसकी कला अद्भुत ही समझमें आ रही है जो कि वचनके अगोचर है, और जब भेदपद्धतिसे अपने आत्माके क्षेत्रको देखें तो उस समय उसका विस्तार ही एक विचित्र है। तो यों जब अखण्ड क्षेत्रदृष्टिसे देखा गया आत्मा सत् है तो वह खण्ड क्षेत्रदृष्टिसे असत् है और जब असंख्यातप्रदेशी है, समुद्घातमें सारे लोकमें फैल जाता है ये आत्मा आदिक जब हम निरखते हैं तो उस खण्डदृष्टिमें जिस प्रकारका क्षेत्रवाला आत्मा सत् है वह अखण्ड क्षेत्रदृष्टिसे असत् है।

स्वहितनिर्णिनीषुका अखण्डकी ओर झुकाव—यहां भी स्वहितनिर्णयके लिए जब इस बातपर विचार करने चलेंगे कि फिर हमको इन दोनोंमें भी किसका अधिक बलपूर्वक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सहारा लेना चाहिए ? यद्यपि बातें दोनों तथ्यभूत हैं लेकिन जब समझानेका प्रयोजन है, उसके विषयको बतलानेका प्रयोजन है जिससे कि जिस मार्गसे हम चलेंगे उस मार्गके लायक हम बन सकेंगे, उसके लिए खण्ड क्षेत्रदृष्टिसे सत् है, इस परिचयका आलम्बन लिया जाता है, किन्तु इस ज्ञानप्रकाशने क्या किया, इसका कितना काम था ? इस ज्ञानप्रकाशका इतना काम था कि वह यहां बता दे कि अखण्ड क्षेत्रसे आत्मा यह विराजमान है। यों समझिये कि जैसे कोई सेठ राजाके दर्शन करनेके लिए, या उससे यों ही मिलनेके लिए जा रहा हो तो उसे पहिले दरवान मिलता है, तो पहिले दरवानसे काम उसका पड़ेगा। दरवान उसे वहां तक ले जाता है जहांसे राजा दिखने लगता है और वहां दरवान यह कहता है—सेठ जी, देखो वहां राजा जो विराजे हुए हैं, तुम वहां जावो, बस इतना कहकर दरवान अलग हो जाता है और वह सेठ अकेले ही बड़ी उत्सुकतासे निर्भय होकर राजाके पास पहुंच जाता है, वहां फिर मिलता है और बात करता है। यों ही समझिये कि जिस आत्मार्थी पुरुषको अपने इस आत्माराजाके दर्शन करना है, उसको पहिले दरवानसे काम पड़ेगा। अब यहां दरवान कौन है ? एक खण्ड दृष्टि, खण्ड द्रव्य, खण्ड क्षेत्र, खण्ड काल और खण्ड भाव इनका परिचय। ये ही इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वके दर्शन करानेके लिए कहां तक ले जायेंगे ? वहां तक जिस सीमासे इस शुद्ध अन्तस्तत्वके दर्शन हो सकते हैं। बस तब इस दरवानने कहा—हमारा काम तो इतना ही था, हमने अपना काम पूरा कर दिया. अब हे सेठजी, सेठ मायने श्रेष्ठ। तो जो आत्मा आत्मार्थी है वह सेठ तो है ही। तो इस दरवानने कहा कि सेठ जी अब निरखिये—वह है अखण्ड शुद्ध अंतस्तत्व। अब मैं विदा होता हूं, यह दरवान विदा हो गया। और यह सेठ, यह आत्मार्थी उपयोग खण्ड द्रव्यदृष्टिके मार्गका सहारा लेकर खुद निजके नेत्रोंका सहारा लेकर यह पहुंचता है शुद्ध अन्तस्तत्वपर तो अब अखण्ड द्रव्यदृष्टिसे भी प्रयोजन नहीं रहा, दोनों दृष्टियोंसे अतीत होकर इस शुद्ध अन्तस्तत्वसे इसने मिल लिया. ऐसे अभेदरूपसे मिल लिया कि जो बहुत दिनोंका बिछुड़ा था और आज मिला है तो जैसे कोई गरीब किसी निधिको पाकर एकान्तमें ले जाकर उससे गाढ़ मिलन करता है, उससे पूरा-पूरा तृप्त होता है, उसे बाहरी बातें ध्यानमें नहीं रहती हैं, इस तरह यह सेठ अपने आपके इस शुद्ध अन्तस्तत्व राजाके दर्शन कर लेता है। क्योंकि वह एक ही था। दोनों पदार्थ एक ही हैं। वहां इन मिथ्यात्वादिक बैरियोंने इन चुगलखोरोंने इसका मनफट कर दिया था। बात इतनी ही थी। थे तो दोनों एक ही, लेकिन अब उन चुगलखोरोंके दिल नहीं मिले तो यहां निर्भय होकर अपने शुद्ध अन्तस्तत्वमें एकरस होकर तृप्त हो रहा है। इस पद्धतिसे यह विदित होता है कि अखण्ड क्षेत्रदृष्टिसे जो सत् है, उसको निरखनेमें परम श्रेय है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

एकमें अनेकान्तका निर्णय—उक्त प्रकारसे निजके क्षेत्रदृष्टिसे यह आत्मा सत् है और असत् है। ये दोनों बातें इस ही निज क्षेत्रमें स्व और परका विभाग बनाकर युक्त हो जाती हैं। ऐसी अनेकान्त की बात चल रही है कि कोई पुरुष यदि इसका उत्सुक है कि हमें तो एक वस्तुमें अनेकान्तका परिचय करायें, तुम दूसरी वस्तुका नाम लेकर अनेकान्तका परिचय क्यों कर रहे हो ? तो ऐसे उस भव्य पुरुषकी बात सुनकर यहां इस विधिसे वर्णन किया जा रहा है कि स्वक्षेत्रसे ही यह आत्मा सत् है और असत् है। हाँ सत्त्व और असत्त्वकी बात स्वपरके विभाग बिना बन नहीं सकती, इस कारण इस स्वक्षेत्रमें ही स्वपरका विभाग करके यह सत् और असत्की बात बनती है।

आत्माके स्वकालसत्त्वका स्पष्टीकरण व स्वकालसे सत् असत् होनेकी जिज्ञासा—आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् है और परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत् है, इससे सम्बन्धित पृथक्-पृथक् भङ्गोंमें बात चल रही है। जिसमें यह बताया गया कि आत्मा अपने द्रव्यकी अपेक्षासे भी स्व पर विभाग द्वारा सत् असत् है और अपने क्षेत्र अपेक्षा से भी स्वपर विभाग द्वारा सत् असत् है। अब यह जिज्ञासा हुई है कि उसी तरह कालकी अपेक्षासे भी अर्थात् स्व काल की अपेक्षासे भी आत्मा सत् असत् हो सकता है क्या ? इस प्रश्नके समाधानसे पहिले इस ही समस्याका निर्णय करें कि स्वकालसे सत् है, परकालसे असत् है। ऐसा जो पहिले समझाया गया था, सो व्यवहारमें तो नजर आ ही रहा है कि कोई किसीकी परिणतिसे परिणम नहीं रहा है, वह तो स्पष्ट ही था, उसको अलगसे बताने की क्या जरूरत थी ? तो इस जरूरतको भी सुनो पहिले। मोह अवस्थामें जीवको यह नहीं नजर आता कि मैं दूसरेके परिणमाये नहीं परिणमता और मेरे परिणमाये बिना दूसरा परिणमता रहता है, यह बात मोहमें विदित नहीं होती। अब जरा दार्शनिक पहलूसे देखो इस बातको। कोई दार्शनिक ऐसा मानता है कि ज्ञान अर्थावलम्बनमात्र है। जब ज्ञानमें चेतनका आकार हो, प्रकार हो, मुद्रा हो, बस तब ही तो वह ज्ञान है। देखिये यद्यपि परके प्रकाश बिना, परकी मुद्रा बिना रहता नहीं है ज्ञान, परप्रकाश बिना कभी भी न रहा। जब ज्ञान है तो उसमें ज्ञेय झलकेगा, जिसकी जितनी योग्यता हो, लेकिन ज्ञानका झलकने रूप मुद्राके कारण ही ज्ञान सत् है यह बात नहीं है। ज्ञान अपने आप सत् है। जैसे दर्पण है तो वह झलकाये बिना रहेगा ही नहीं। संदूकमें बन्द कर ले तो उसका पलड़ा झलका, कपड़ामें बन्द करे तो कपड़ा झलका। मैदानमें रखे तो आसमान झलक गया। दर्पण झलके बिना नहीं रहता है। जब कोई माने कि दर्पणका जो आकार है क्या वह ही परिणामा। यद्यपि प्रकाशकी झलक बिना दर्पण कभी रहता नहीं, फिर भी है, उस झलकसे निराला दर्पणका अपना खुदका स्वरूप है, इसी प्रकार परज्ञेय झलके बिना ज्ञान रहेगा नहीं,

http://sahjanandvarnishastra.org/

तथापि उस परज्ञानसे प्रतिविम्बकसे अतिरिक्त ज्ञानका कोई स्वरूप है। और इसी दृष्टिसे दर्शन ज्ञानके लक्षणमें ऐसा भी वर्णन आता है कि जो ज्ञानाकारको प्रतिभासे सो दर्शन और जो ज्ञेयाकारको प्रतिभासे सो ज्ञान। किसी दार्शनिकने ऐसा माना है कि अर्थके आलम्बन मात्र ही ज्ञानका स्वरूप है। इसका अर्थ क्या हुआ कि अर्थके कालमें ही ज्ञानका सत्त्व है तो ज्ञेय है सो उसके कारण ही ज्ञानकी सत्ता है और परज्ञेय नहीं है तो ज्ञानकी सत्ता नहीं है। तो लो इस दार्शनिक विधिसे परपरिणतिसे आत्माका सत्त्व माना जा रहा था तो यह आवश्यक हुआ कि यह बताया जाय कि ज्ञान अथवा आत्मा परकालसे सत् नहीं है। यदि परकालसे सत् इस तरहसे मान लिया जाय कि जिस पदार्थका आलम्बन किया ज्ञानने और वह पदार्थ झलक रहा इतने मात्रसे ज्ञानको सत् माना जाय तो पहिले जिस पदार्थका आलम्बन करके ज्ञान हुआ है वह पदार्थ विनष्ट हो जायगा तो ज्ञान भी नष्ट हो जायगा फिर उनके मतमें। तब यह आवश्यक हुआ कि यह बताया जाय कि ज्ञान अथवा आत्मा अपने कालसे सत् है, और अपने कालसे सत् है, इसीका ही अर्थ हुआ कि ज्ञान परकालसे असत् है। तो ऐसे स्वकालसे सत् रहनेवाले और परकालसे असत् होनेवाले इस आत्माके सम्बन्धमें अब स्वकाल सत्के बारेमें ही जिज्ञासा हो रही है कि क्या स्वकालकी अपेक्षा भी यह आत्मा सत् असत् हो सकता है?

उक्त जिज्ञासाके समाधानमें भेद अभेद स्वकालदृष्टिसे आत्माके सत्त्व असत्त्वका कथन— उक्त जिज्ञासाके समाधानमें ये दो दृष्टियाँ मूलमें बनानी हैं। एक भेद अभेद स्वकालदृष्टि, दूसरा सामान्य विशेष स्वकालदृष्टि। भेद अभेद स्वकाल दृष्टिका अर्थ यह है कि एक ही समयमें जो पर्याय हो रही है, वर्तमान पर्यायको ही भेददृष्टिसे देखना और अभेददृष्टिसे देखना, यहाँ भूत भावीपर्याय की बात नहीं कही जा रही है। जैसे प्रत्येक पदार्थमें प्रतिक्षण एक ही परिणमन होता है, पर उस परिणमनको जब भेददृष्टिसे देखते है तो उस ही समय में नाना पर्यायें दिखती हैं। जैसे आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनेक गुण हैं और उन गुणोंकी पर्यायें भी हैं, एक साथ पर्यायें हैं, ज्ञान परिणमन हो रहा, उसी काल में श्रद्धा परिणमन है, आनन्द परिणमन है, एक ही साथ अनन्त परिणमन हो गए, क्योंकि गुण अनन्त हैं। अब अनन्त गुणोंको निरखकर जो अनन्त पर्यायें विदित हुईं उन सबको अभेद दृष्टिसे देखेंगे, अनन्त पर्यायें कहां हैं, एक परिणमन है, जो भी हो वह एक परिणमन है। तो ऐसे वर्तमान क्षणमें एक क्षणमें होने वाली पर्यायको अभेददृष्टिसे देखें तो अभेदपर्याय विदित हुई और भेददृष्टिसे देखें तो भेदपर्याय विदित हुई। अब यह अभेदपर्याय और भेद पर्याय ये परस्पर स्व पर बन गए। जिस समय अभेद कालदृष्टिसे निहारा जा रहा है तो जो एक अभेदपर्याय विदित हुआ वह स्व है, तो भेद दृष्टिसे निरखी गयी वे अनन्त पर्यायें पर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हो गईं। तब अभेद स्वकालसे जो सत् है वही भेद स्वकालसे असत् है। इसी प्रकार जिस समय हम आत्मामें उन अनन्त पर्यायोंको जान रहे हैं, भिन्न-भिन्न रूपसे जान रहे, उसका स्वकाल याने उस आत्माका उस समयमें जो परिणमन है, जान रहे हैं, तथा उसे अगर जान रहे भेददृष्टिसे तो भेददृष्टिसे जो स्वकाल नजर आया, वह जब स्व मान लिया गया, तब अभेद दृष्टिसे विदित हो सकनेवाली जो अभेद पर्याय है वह पर हो गया। तो अब यहाँ भेद स्वकालसे सत् है तो अभेद स्वकालसे असत् है, यों स्वकालकी अपेक्षा भेद अभेद विभाग में सत् असत् की बात हुई।

अब सामान्य विशेष काल विभागमें सत् असत् पहिले देखो—जैसे कि कहा था कि पर्याय को मौलिक दो विभागोंमें बाँटो। भेदाभेद स्वकाल और सामान्य विशेष स्वकाल। तो भेदा-भेदस्वकालका वर्णन कुछ कर दिया, अब सामान्य विशेष स्वकालकी बात समझियेगा। आत्मामें वर्तमान, भूत और भावी जितनी भी पर्यायें हैं वे अनन्त पर्यायें हैं। विशेषकाल, ऊर्द्धता विशेष, क्रम-क्रमसे होनेवाली ये अनन्त पर्यायें ये जानी गईं विशेष स्वकालसे और अभेद पद्धतिमें वर्तमान, भूत, भविष्यत जितनी पर्यायें हैं वे सब पर्यायें क्या हैं? पर्याय ही तो हैं। सो उन अनन्त विशेष पर्यायोंको सामान्यदृष्टिसे देखें तो एक सामान्य अभेद पर्याय विदित हुई। तो अब इस तरहसे जाने गए ये दो सामान्य व विशेष स्वकाल अर्थात् भूत, भविष्यत, वर्तमान सब कालोंका अभेद विधिमें नाम है सामान्य स्वकाल, जब कि अभेददृष्टि से देख रहे हों और एक-एक क्षणकी पर्यायका नाम है विशेष स्वकाल, तो जब सामान्य स्वकालसे सत् है तो वह विशेष स्वकालसे असत् है, इसी तरह विशेष स्वकाल से जो सत् विदित होता है वह सामान्य स्वकालसे असत् है। इस तरह स्वकालकी अपेक्षासे एक आत्मा में सत् असत्का ज्ञान होता है।

स्वकालसे सत् असत्के निर्णयमें प्रधानतया आलम्ब्य भाव—यहाँ भी प्रयोजनवश जब जानने चलेंगे हम भेद अभेदके स्वकालके मैदानमें कि जो हमने यह समझा है कि अभेद स्वकाल तो है एक क्षणकी अभेद पर्याय और अनन्त गुणोंकी अनन्तपर्यायें हैं, भेद स्वकाल तो इन दोनोंका जो हम परिचय कर रहे हैं तो मुकाबलेतन इसमें आलम्बनके योग्य कौन सी दृष्टि है प्रधानतया? तो विचार करने पर विदित होगा कि जो हम भेद स्वकाल ज्ञात कर रहे हैं कि लो यह है ज्ञान, यह है मिथ्यात्व, यह है सम्यग्दर्शन, यह है कषाय, यह है शान्ति, यही तो भेद स्वकालका रूप है। तो जब हम भेदस्वकालको ज्ञात कर रहे हैं तो हमारा उपयोग एक पदमें स्थिर नहीं हो पाया, लेकिन आवश्यक है उसका भी परिचय। उसके परिचय बिना हम आगे कदम बढ़ा ही नहीं सकते। जैसे कि पहिले सीढ़ियों पर चढ़े बिना हम अटारी पर पहुंच ही नहीं सकते। तो भेदस्वकालसे सारी बातें विदित

http://sahjanandvarnishastra.org/

होती हैं। आत्मामें अनन्त गुण हैं। इसके परिचयका साधन क्या है? यह भेद स्वकाल। कैसे समझें कि इस आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, इतने गुण हैं, इसको समझाने वाला कौन है? यह भेद स्वकाल। जैसे अग्नि जलाते हैं– दहन गुण है, प्रकाशन गुण है, तापन गुण है, पाचन गुण है, इसे कैसे समझें? जब हम देखते हैं कि पक गया कुछ, प्रकाश हो गया कुछ, तो इन पर्यायोंको देखकर ही हम गुणका ज्ञान करते हैं। तो आत्मा अनन्तगुणात्मक है, इस बोधका कराने वाला तो यह भेदस्वकाल है, इस कारण भेदस्वकालका परिचय आवश्यक है, लेकिन निर्विकल्पसमाधिकी धुन रखनेवाले पुरुषोंके लिए यह पहिला हस्तावलम्बन मात्र है और इसके सहयोगसे अन्तर्दर्शक अभेद स्वकालके निकट यह आत्मार्थी पहुंचता है अर्थात् अभेद स्वकालका परिज्ञान करना भेदस्वकालके परिज्ञानकी अपेक्षासे धीरता, गम्भीरता, उदारता आदिकको लिए हुए है। इसके पश्चात् चलना तो अभेद स्वकालके परिचय विकल्पको भी छोड़कर निर्विकल्प शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें। इसी प्रकार जब हम सामान्य स्वकाल और विशेष स्वकाल अर्थात् भूत, भविष्यत, वर्तमान सारे काल परिणमन और त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंको चूंकि वह पर्याय ही है इस सामान्यस्वकालको निरखकर पर्याय सामान्य मात्र जाना। इस तरह सामान्य पर्याय और विशेष पर्याय इन दोनोंके परिचयके सम्बन्धमें भी मुकाबलेतन परखा जाय कि इनमें आलम्ब्य विशेषतया क्या है? यहाँ भी यह विदित होगा कि जब हम भूत वर्तमान भविष्य रूप विशेष स्वकालके परिचयमें लगे हैं तब वह धीरता, वह साम्यभाव निर्विकल्प समाधिमें पहुंचने जैसा निकट वाला आनन्द नहीं प्राप्त होता, लेकिन ज्ञातव्य अवश्य है। हम पदार्थ की उन अनन्त पर्यायोंको श्रुतज्ञानके द्वारा यदि न जानें तो हम पदार्थका बोध न कर सकेंगे कि पदार्थ क्या है? पदार्थ नित्य है, सदाकाल रहने वाला है। मैं आत्मा भी नित्य हूँ, यह सब बोध किस तरह होगा? तो इस तरह यह विशेष स्वकाल प्रयोजनभूत है, लेकिन निर्विकल्प समाधिकी धुनवाले को यह सहयोगी तो हुआ, अब इसके बलसे यह अभेद पर्याय में आया अर्थात् ऐसे पर्यायमात्रके अनुभवमें आया कि जहाँ यह विकल्प भी नहीं उठता कि यह पर्याय, ये अनादि अनन्त अनेक पर्यायें या ये विकल्प, यों यह सामान्य स्वकालमें आया और सामान्य स्वकालमें एक अलौकिक अनुभवके बलसे इससे भी अतीत होकर वह अन्तस्तत्वके अनुभवमें आया, शुद्ध अनुभवमें आया, मगर स्वकाल छूटेगा नहीं, भले ही उपयोग में पर्याय नहीं है, मगर पर्याय द्वारा ही वह निष्पर्यायका अनुभव कर रहा है। यों आत्मा स्वकालसे भी स्वपरविभाग द्वारा सत् और असत् है।

स्वभावसे सत् असत्की जिज्ञासाके समाधानमें भेद स्वभाव व अभेद स्वभावका वर्णन—अब यह जिज्ञासा हो रही है कि आत्माके सत्त्व असत्त्व बतानेके प्रकरणमें द्रव्य,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्षेत्र, काल, भावसे सत् असत् घटाया था जिससे स्वद्रव्यसे भी सत् असत् है, स्वक्षेत्रसे भी सत् असत् है, स्वकालसे भी एक सत् असत् है, यह तो वर्णन हो चुका है। अब एक अन्तिम तद्विषयक यह जिज्ञासा रह गई है कि क्या आत्मा स्वभावकी अपेक्षासे भी सत् और असत् ये दो प्रकार होते हैं ? इसके समाधानको दो दृष्टियोंसे जानना होगा--भेददृष्टि और अभेद-दृष्टि। भेददृष्टिको व्यवहारदृष्टि कहा, अभेददृष्टिको निश्चयदृष्टि कहा। परखना है आत्मा के भावोंको। भाव जो शाश्वत है, अनादि अनन्त है, आत्माके साथ ही रहनेवाला है अर्थात् सहज है, ऐसे भावोंकी चर्चा की जा रही है। तो आत्माके भावोंको जब हम भेददृष्टिसे देखते हैं तो यहाँ अनेक गुणपर्यायें विदित होती हैं; ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनेक गुण विदित होते हैं, और जब आत्माके भावोंको अभेददृष्टिसे देखते हैं तो एक सामान्य भावरूपसे विदित होता है, जिसे कह लीजिए स्वभाव। आत्माका स्वभाव तो अभेद एक है, जिसका वर्णन करनेवाला कुछ शब्द है। ज्ञानमें आकर भी वचनगोचर नहीं होता, ऐसी बात होती है। जैसे एक रेतीली नदीके किनारे खड़े हों, मानो यमुना नदीके किनारे खड़े हैं और फर्लांगोंका घाट पानीसे शून्य है, वहाँ जितने रेतके दाने हैं, जो सब ऊपर पड़े हुए हैं वे सब दाने ज्ञानमें आये कि नहीं ? आये तो सही, लेकिन उनकी गिनती करके कोई बता सकेगा क्या ? गिनती करने चलेगा तो जीवन खतम हो जायगा, उनकी गिनती पूरी नहीं हो सकती। तो हम उन दानोंको गिन भी नहीं पा रहे और अलग बता भी नहीं पा रहे, फिर भी सब जान रहे। तो ऐसा भी होता है कि ज्ञानमें तो आ रहे हैं, पर वचनमें नहीं आ सकते। और तो बात जाने दो, जब कोई भोजन करता है तो उसको स्वाद ज्ञानमें आ रहा है, मगर उसे बता नहीं सकता। तो आत्माका अभेदभाव एक सामान्य स्वभाव है, यह अनुभवमें तो आ जाता है, पर यह वचनोंमें बाँधा नहीं जा सकता, फिर भी तीर्थप्रवृत्ति तो करनी आवश्यक ही है। उसके संकेत देना आवश्यक ही हैं, सो उसे चित्स्वभाव, ज्ञायकस्वभाव आदिक शब्दों से बताया गया है। संकेत वाला शब्द है, यह स्वार्थक शब्द नहीं है। चित्स्वभाव ज्ञानस्वभाव आदिक जो शब्द हैं ये सांकेतिक शब्द हैं जिनको कि हमें समझाना है, बताना है। कहीं ये यहाँ सार्थक शब्द नहीं हैं, जिस स्वभावको हम बतानेके लिए चल रहे हैं उसे ये शब्द बता रहे हों ऐसा नहीं है। ये शब्द बतायेंगे विशेषणको, चित्स्वभावको। ये शब्द अस्तित्व स्व-भावकी बात नहीं कह रहे हैं। आनन्द चारित्र आदिक अनेक स्वभाव पड़े हैं उन्हें ये चित्स्व-भाव आदि शब्द न बता सकेंगे अर्थकी दृष्टिसे। इस कारण चित्स्वभाव, ज्ञायकस्वभाव ये सब वाचक शब्द नहीं हैं, किन्तु सांकेतिक शब्द हैं। जैसे कोई मित्र किसी आवाजका संकेत कर लेता है कि तुम ऐसी चुटकी बजावोगे तो हम यह समझ जायेंगे और यह कार्य करेंगे। तुम ऐसे हाथ उठाओगे तो हम यह अर्थ समझ जायेंगे और यह कार्य करेंगे, तो जैसे वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चुटकी या शब्द या क्रिया सांकेतिक है, वाचक नहीं है तो यों आत्माके स्वभावका वर्णन वचनके अगोचर है। फिर भी चित्स्वभाव ज्ञायकस्वभाव इस शब्दसे उस अभेद सामान्य स्वभावको बताया जाता है, हाँ तो अभेदभावकी दृष्टिसे जाने गए आत्माका एक सामान्य स्वभाव और भेदभावकी दृष्टिसे जाने गए आत्माके ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक अनन्त गुण।

स्व भेद भाव व स्व अभेद भावमें स्वपरविभागकी विवक्षासे सत् असत्का निर्णय व आलम्ब्य भाव—अब यहाँ स्वपरका विभाग बना लीजिए। अभेद स्वभावसे जो जाना गया है चित्स्वभाव, ज्ञायकस्वभाव वह अभेद स्वभावसे सत् है तो वह भेद स्वभावसे असत् है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनन्त गुण ये हुए भेद स्वभाव, इसकी दृष्टिसे वह न आयगा ज्ञानमें। तो यों अभेदस्वभावसे जो सत् है वह भेद स्वभावसे असत् है। जब हम भेदस्वभावसे सत् परखेंगे, आत्मामें ज्ञान है, चारित्र है, ऐसे अनन्त गुणोंको जान-जानकर जब हम भेदस्वभावको जान रहे हैं तो उस पर्यायमें जो सत् है वह अभेद स्वभावसे असत् है। इस तरह स्वभावकी अपेक्षासे भी एक पदार्थमें सत् असत्की बात विदित हुई। यहाँ भी जब यह परखने चलेंगे कि इन दोनों दृष्टियोंमें भी मुकाबलेतन कौनसी दृष्टि प्रधानतया आलम्बनके योग्य है? तो यह बात बहुत कामकी कही जा रही है, जिसको उपयोगमें लेनेसे अपना स्वकाल सफल हो जायगा। भेदस्वभावकी दृष्टिमें यही तो निरखा जाता है कि यह ज्ञान है, दर्शन है अनन्त गुण है, यद्यपि यह समझना बड़ा आवश्यक है। इसके जाने बिना हम आत्माकी उस अतुल ऋद्धि महिमाको छू नहीं सकते। तो हुआ भेदभावका जानना आवश्यक, लेकिन यह भी परख लीजिए कि जो स्व भेद भावके विकल्पमें ही रहा करे उसे आत्मामें मिला क्या? वह तो एक चर्चा हो गयी। जैसे कि कोई जंगलकी चर्चा करता है— इतने पेड़ हैं, खिड़कियोंकी चर्चा करता है कि इतने इसमें सरिया हैं, यों ही आत्माकी भी चर्चा कर ली कि इसमें इतने गुण हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक। तो ऐसी चर्चा कर लेने मात्रसे लाभ क्या उठाया? स्वाद क्या लिया? अभी केवल एक भेदभावके दर्शनमें वह रसपान नहीं हो पाया कि जिसमें यह तृप्त हो जाय, परम कल्याणमय बन जाय। तो आवश्यक होनेपर भी भेदभावको छोड़कर अभेद स्वभावमें आना होता है, वह आयगा इसीके सहयोगसे। इसलिए कृतघ्नी बननेकी बात नहीं कह रहे लेकिन सच्ची कृतज्ञता भी व्यवहारनयके प्रति तब कहलायगी कि व्यवहारनयका जो प्रयोजन था उसको यह प्राप्त कर ले। तो यों भेद स्वभावमें अभेदस्वभाव जानें और अभेदस्वभावमें एकरस होकर फिर उसका अनुभव करे, यह सब स्वानुभवका उपाय है, इसके लिए यह सब चर्चा है।

वर्तमान अवसरमें एकमात्र सहजज्योतिस्वरूपके दर्शनका कर्तव्य—इस लोकमें कर्तव्य मात्र एक अपने सामान्य सहज ज्योतिस्वरूपकी दृष्टि रखनेमें है। जब ज्ञानका काम जानना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है तो जाननेका ही काम तो किया जाय, पर वह परको न जाने, स्वको जान ले। ज्ञानमें यह कला बसी हुई है कि जिसकी ओर उपयोग दे उसको यह जान सकेगा। जब बाहरी पदार्थोंपर दृष्टि देते हैं तो उन्हें जानते हैं, देहपर दृष्टि देंगे तो उसे जानेंगे। तो देहके भीतर खून, हड्डी आदिक बसे हैं, जिन्हें हम आँखोंसे तो नहीं देखते, पर पूरा निर्णय है ना। अगर देहके भीतर हड्डी खून आदिक की ओर दृष्टि दें तो ज्ञान उसे भी जानेगा और जब भीतर के रागद्वेष, सुख दु:ख, इन भावोंपर दृष्टि दें तो यह उन्हें भी जानेगा। तो इसी तरह राग-द्वेष आदिक भावोंसे परे जो आत्माका सहज स्वभाव है उसकी ओर दृष्टि करें तो क्या हम उसे न जान पायेंगे? बल्कि देहके भीतर जो खून हाड़ है उसको हम स्पष्ट न जान पायेंगे, हम अनुमानसे ही समझेंगे कि चूंकि दूसरोंके हाड़ आदि देखते हैं और खुदमें भी ऊपरसे टटोलते हैं तो कुछ लगता है कि है वही। इस तरह हम उसे अस्पष्टरूपसे जानेंगे। पर अपने आपका जो भाव है, रागादिक भाव है उसे हम उससे ज्यादह स्पष्ट जान लेते हैं, क्योंकि वह भाव हम आप यहाँ सबमें गुजर रहा और उन रागादिक भावोंसे भी अधिक स्पष्ट हमें अपने उस ज्ञानस्वरूपका भान होगा। क्यों भान होगा कि जब हम रागको जान रहे हैं तो रागभावमें और ज्ञानभावमें द्वैतपना है, यद्यपि अपने आत्माके अन्त: बसा है राग और उसको जाननेका यत्न भी अन्त: है, लेकिन राग है अन्य वस्तु, ज्ञान है अन्य वस्तु। वस्तुके रूपमें यहाँ स्वतंत्र पदार्थोंकी बात नहीं कह रहे। किन्तु एक भाव है, जैसे कहते लोकमें कि ज्ञान है अन्य चीज, राग है अन्य चीज। तो ज्ञान रागको जानने चले तो उसे अति स्पष्ट न जान पायेगा, किन्तु जब ज्ञान ज्ञानस्वरूपको जानने चला तो सर्वाधिक स्पष्ट ज्ञान इसके हुआ। तो उस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको जाननेका यत्न इसीलिए किया जाता है कि हम उस ज्ञानके शुद्ध सहज स्वरूपको जानकर उसमें मग्न हों, एतदर्थ यह पौरुष है ज्ञानाभ्यास, पदार्थोंका परिचयन, स्याद्वाद पद्धतियोंसे उसका स्पष्ट परिज्ञान करना।

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी दृष्टिसे एकत्व अनेकत्वका परिचय—यहाँ आत्माके परिचयकी बात कही जा रही है। अभी यहाँ बताया गया था कि आत्मा स्वचतुष्टयसे सत् है, परचतुष्टयसे असत् है, फिर यह कहा गया कि उस चतुष्टयमें भी प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी दृष्टिसे याने स्वके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् है और असत् है। अब यह जिज्ञासा आ रही है कि आत्माको पहिले एक अनेक बताया गया था। वह एक सामान्यरूपसे या परदृष्टिसे कहा जा सकता है कि आत्मा अपने आपमें एक है और स्वरूपत: एक है और अनेक आत्माओं की दृष्टिसे अनेक है, किन्तु अब यहाँ यह जानने की बात कही जा रही है कि अपने द्रव्यसे भी आत्मा एक अनेक है, अपने क्षेत्रसे, कालसे, भावसे भी एक अनेक है। एक अनेकका अर्थ है कि एकरूप और अनेकरूप। जब द्रव्यदृष्टिसे परखते हैं तो गुणपर्याया-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

त्मक पिण्ड वह अभेद एक है और जब गुण भी पर्याय भी अनेक गुण अनेक पर्यायें निरखी जाती हैं तो चूँकि जो भी गुण हैं, जो भी पर्याय हैं और जिस समयमें जिस पर्यायरूप हो रहा है आत्मा वह आत्मा वही तो है। जैसे नरक भवमें गया जीव नारकी है, वही तिर्यञ्च भवमें गया तो तिर्यञ्च है, देव भवमें तो देव है। तो जो जिस पर्यायमें रहता है वह वही तो जीव है। यों पर्यायदृष्टिसे, व्यवहारदृष्टिसे निरखने पर यह आत्मा अनेक सिद्ध होता है। इसी तरह क्षेत्रदृष्टिसे अखण्ड क्षेत्रकी अपेक्षा एक है और खण्ड क्षेत्रप्रदेशकी दृष्टिसे यह अनेक रूप है, क्योंकि वह अनेकप्रदेशात्मक है। ऐसे ही कालदृष्टिसे भेद स्वकालसे अनेक है, अभेद स्वकालसे एक है। जब जिस क्षणमें जिस पर्यायरूपसे परिणम रहा है पदार्थ तो वहाँ तो एक ही है वह और जो नाना गुणोंके परिणमनरूपसे परिणम रहा है उसी समय तिर्यक विशेषकी दृष्टिसे वह अनेक रूप हो रहा है, ज्ञानरूप है, दर्शनरूप है आदिक और सामान्य स्वकाल विशेष स्वकाल जब भूत भविष्य वर्तमान सभी पर्यायोंका अभेद करके पर्यायमात्र रूपसे निरखा जा रहा है तो वहाँ वह आत्मा एक है। जब प्रतिक्षणकी पर्यायों को लेकर निरखा जा रहा है जो वह अनेक है, ऐसे भावदृष्टिसे भी एक अनेक प्रतीत होता है, एक चित्स्वभाव ज्ञायक स्वभाव, उस दृष्टिसे भी एक है और इसमें गुण अनन्त हैं, तो प्रत्येक गुणोंकी दृष्टिसे यह आत्मा अनेक रूप हो जाता है। इन सब भेदोंको जानकर अभेद एकस्वरूप ज्योतिका आश्रय लें।

समस्त प्रकारोंके परिचयका प्रयोजन शुद्ध अन्तस्तत्त्वका शरणग्रहण—जैसे पारिणामिक भावमें तीन बातें कहकर दृष्टि दिलाई गई है शुद्ध जीवत्वपर अथवा वहाँ चार भेद बनाकर शुद्ध जीवत्व, अशुद्ध जीवत्व, भव्यत्व, अभव्य व उनमें एक शुद्ध पारिणामिक भाव पर दृष्टि दिलाई गई है और अन्यको ज्ञेयरूपसे कहा गया है, उन्हें आलम्बनके लिए नहीं कहा गया है, क्योंकि शुद्ध जीवत्वको व्यवस्था करनेके लिए अन्य पारिणामिक भाव भी बताये गए हैं, और ये केवल तीन ही पारिणामिक भाव हों सो भी नहीं है, किन्तु अनेक पारिणामिक भाव हैं। अस्तित्त्व वस्तुत्व प्रमेयत्व आदिक भाव क्या औपशमिक हैं या क्षायिक हैं या औदयिक हैं? उपशम, क्षय, क्षयोपशम व उदयकी अपेक्षा नहीं रखता है, वस्तु में सहज ही बना हुआ है। तो पारिणामिक भाव भी अनेक हो जाता है। हाँ सिद्धान्त शास्त्रोंमें तीन इस कारण बताये गए हैं कि अस्तित्व आदिक पारिणामिक भाव ये साधारण हैं, सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं, इस कारणसे उनकी विवक्षा नहीं की। तो जैसे अन्य पारिणामिक भावोंको जानकर आलम्बन तो शुद्ध जीवत्वका लेना होता है, इसी तरह आत्माकी गुणपर्यायें प्रदेश परिणतियां सब कुछ जानकर आलम्बन किया जाना है तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वभाव चैतन्यभावका किया जाना चाहिये। जीवोंमें ऐसी प्रकृति पड़ी हुई है कि वे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपना किसीको एक शरण मानें और उस शरणमें रहें। यह प्रकृति कहीं नहीं मिट रहीं। जो मोही जीव हैं वे अपनी मोहमयी दुनियामें किसी न किसीका शरण मानते हैं और उसके आश्रय रहते हैं। कोई घर भी छोड़ दे, समाजमें नेतागिरी करे तो ऐसे लीडर लोग भी किसीको अपना सुखकारी मानकर उसका शरण लेते हैं, तो क्या इन विरक्त गृहस्थजनों ने, दार्शनिकोंने, साधुवोंने क्या अपनी आदतको बदल दिया ? नहीं बदला। वे भी किसी को निरखकर शरण मानते हैं, पंचपरमेष्ठियोंको शरण मानते हैं, और उत्कृष्ट बात आयी तो अपने आपमें विराजमान उस सहज कारणपरमात्मतत्त्वको शरण माना। जिस किसी को भी शरण मानकर उस शरणमें रहनेका उनका परिणाम रहता है। तो इस सब परिचयको करके हमको शरण गहना चाहिए इस शुद्ध अन्तस्तत्वकी। इस तरह इस अंतस्तत्व के आलम्बनके लिए अन्तस्तत्वके स्वरूपका वर्णन किया जा रहा है।

आत्माके साध्यत्व व साधकत्व विषयक १६ वीं जिज्ञासा—अब पूछा जा रहा है कि आत्मा साध्य है अथवा साधक ? यह प्रश्न यों आया कि प्रायः साधकरूपसे सब लोगों की दृष्टि लगी हुई है और धर्मके प्रसंगमें जो जो भी व्यवहार प्रिय धर्मात्मा लोग कार्य करते हैं वे अपने को साधक रूपसे ही तो अनुभवते हैं, मगर साध्यरूपसे नहीं अनुभव पाते। साधक रूपसे यों अनुभवते हैं कि मैंने भक्ति किया, परमात्माका ध्यान किया, जाप किया, पूजा किया, विधान किया···, यों साधक रूपसे अपनेको मान रहे हैं, पर ऐसे व्यवहारी धर्मात्माको निश्चयकी यह सुध नहीं है कि मैं साध्य हूँ। बल्कि साधक बन बनकर यह पता भी न पाड़ सके कि आखिर हमको वास्तवमें एकमात्र चाहिये क्या ? कितनी यह आश्चर्य की बात है कि धर्मके लिए इतना तपश्चरण करें, इतनी साधना करें, सब कुछ करें, पर उनके चित्तमें यह निर्णय नहीं हो पाया कि मुझे केवल एक यही मात्र चाहिए। चाहनेका तो पता है, सोचता हैं वह कि हमें चाहिए धन, कभी मुकदमेकी जीत चाहा तो कभी परिवारी जन चाहा, कभी कुछ चाहा। ऐसी अनेक चाहें हो जाती हैं, पर कभी एक चाहपर टिक नहीं रहा कि मुझे केवल केवल एक यह चाहिए। इसका कारण कि उन्होंने अपने आपको साध्यरूपसे नहीं परखा है और जब बात सुन करके ऐसा भी सोच लेते हैं कि यह मैं ही साध्य हूं, पर यह मैं साध्य किस विधिसे हूं, क्या साधन है, किस तरह यह साधन बना ? उसका निर्णय नहीं हो पाता। कभी तो कोई साध्यका एकान्त किये है, कोई साधकपनेका तो उनमें यह जाननेकी बात चल रही है कि वास्तवमें आत्मा साध्य है अथवा साधक ?

शुद्धनय व व्यवहारनयसे आत्माके साध्यत्व व साधकत्वविषयक निर्णय—उक्त जिज्ञासाका समाधान दो दृष्टियोंसे आयगा। निश्चयदृष्टिसे तो आत्मा न साध्य है और न साधक, किन्तु परमपारिणामिक भावमय है, शुद्ध जीवत्वस्वरूप है। जो है सो ही है। शुद्ध

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नयमें एक सहज स्वरूपका दर्शन हुआ, तो निश्चयसे आत्मा न साध्य है और न साधक है, किन्तु स्वकीय चित्स्वभावमात्र है, साध्य साधकका भाव यह तो व्यवहारदृष्टिका है और व्यवहारदृष्टिसे साध्यभाव होना तो आवश्यक है, पर साध्य क्या है, उसका संकेत पड़ेगा यह निश्चयका वाच्य, वह साध्यपनेकी पद्धति व्यवहारनयसे बनती है। तो व्यवहारसे यह आत्मा साधक है और यही आत्मा साध्य है। साध्य क्या है ? यह जैसा है सहज वैसा ही मात्र रह जाय, यह साध्य कहलाता है। आत्मासे ही निर्मल पर्यायें प्रकट होती हैं और ये निर्मल पर्यायें भी प्रकट होती हैं इस शुद्ध अन्तरतत्त्वका आश्रय करनेसे। जिस कार्यकी जो विधि होती है वह कार्य उस विधिसे बनता है। तो आत्माका जो कैवल्य प्राप्त होगा तो केवलके आश्रयसे ही प्राप्त होगा, न कि अन्यके आश्रयसे। कुछ हीन पदमें, अशक्ति पदमें बाह्यसाधन जुटाये जाते हैं और वहाँ वे जुटाये जाना भी चाहिएँ, पर जुटाये जाकर भी सम्यक्त्व ज्ञान आचरणविषयक जितना भी कदम बढ़ेगा वह शुद्ध अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे। तो शुद्ध अन्तःस्वरूपके आलम्बनसे तो निर्मल पर्याय होती है और निर्मल पर्याय हो जानेसे अर्थात् जो था, जो है सहज वैसा ही रह जाना, इसका नाम है साध्य अवस्था और उस साध्य अवस्थाको सिद्ध करनेके लिए जो आत्मावलम्बनके लिए पौरुष कर रहा है वह पुरुष है साधक। तो इस तरह आत्मा साधक है और आत्मा साध्य है, लेकिन यह साधक साध्यकी जो दृष्टि है यह अविकल्प भावमें नहीं हुई। वहाँ विकल्प ही हुआ है, इस कारणसे साध्य साधकपनेकी बात व्यवहारदृष्टिसे है और शुद्धनयसे वह न साध्य है, न साधक।

धर्म और धर्मपालन—इस प्रसंगमें एक बात और जान लेना चाहिए कि धर्म किसे कहते हैं ? परमार्थ धर्म किसे कहते हैं ? इसका स्वरूप बतानेपर ज्ञात होगा कि यह किया नहीं जाता। यह सुनकर एक आश्चर्यकी बात होगी कि धर्म करनेकी बात तो सभी लोग कहते हैं, धर्म करो धर्म करो, ऐसा तो सभी लोग कहते हैं। और यों तो जब सूर्यग्रहण अथवा चन्द्रग्रहण पड़ता है तो उस समय छोटी जातिके लोग थैला लेकर निकलते हैं और कहते हैं कि धर्म करो धर्म करो। तो धर्म क्या चीज है ? मूलतः बात कही जायगी उत्तरोत्तर। धर्म नाम है वस्तुस्वभावका, आत्मस्वभावका। जो आत्माका स्वभाव है सो आत्माका धर्म है। ग्रन्थोंमें लिखा है, अनेक जगह पढ़ लीजिए—वत्थु सहाओ धम्मो। आत्माका स्वभाव आत्माका धर्म है। अब बताओ वह आत्मा स्वभाव करनेकी चीज है क्या ? कोई पुरुष स्वभावको करे, न था स्वभाव किया जा रहा है, वास्तवमें स्वभावमें थोड़ी कसर है, कोई खूट टेढ़ा हो गया है सो जीव घिसा जा रहा है, तो ऐसा कोई स्वभाव किए जानेकी चीज है क्या ? तो धर्म भी किए जानेकी चीज नहीं है, तब फिर इतने मात्रसे क्या इस साधकका काम निकल जायगा ? यों अगर इतने मात्रसे साधक बन जाय तो सारे जीव इस स्वभाव-
Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मय हैं। सभी साधक कहलायेंगे। सो साधकपनेकी बात यह है कि इस आत्मधर्मकी जो दृष्टि करे व उस आत्मधर्मका आलम्बन परिचय करे उसे कहते हैं धर्मपालन। लोग कहते हैं कि धर्मपालन करो। तो उसका अर्थ यह लेना चाहिए कि आत्माका जो सहज चैतन्यस्व-भाव है उसपर उपयोग दो, उसका आलम्बन करो, यह उसका भाव है। अच्छा, अब पालनविषय क्रममें यह प्रथम बात आयी कि आत्मामें जो अनादि अनन्त अन्तःप्रकाशमान स्वभाव है उसकी दृष्टि करें, उसका आलम्बन लेना यही है धर्मपालन। अब यही बात जल्दी सीधे करते तो नहीं बन रही है, कुछ ऐसा कर्मविपाक है जिसके कारण ऐसा समझ-कर भी, जानकर भी उसपर नहीं टिक पाते। तब ऐसी स्थितिमें क्या करना कि हम उस आत्मस्वभावका दर्शन, आलम्बन कर सकें, या इसको हम अनुभावात्मक न कर सकें तो पात्रता तो बनाये रहें, हम उस लायक तो रहें जिससे किसी भी समय इस अन्तःप्रकाशमान कारणपरमात्मतत्त्वके दर्शन तो कर सकें। इस पात्रताको बनाये रखनेके लिए अब यह सब व्यवहार व्रत संयमका पालन तो अब तीसरे क्रममें आया यह भावभीना व्रत संयमका पालन करना। अब इसपर भी विरले पुरुष ही टिक पाते हैं। तब ऐसे ज्ञानीने क्या उसे निरखकर फिर अन्य लोक भी धर्मभावसे इसको करें तो वह भी धर्मपालन कहलाया। पर वह हुआ विचारसे धर्मपालन। वास्तवमें धर्मपालन है आत्माका अकृत अनादि अनन्त चित्स्वभावका आश्रय लेना। सो यह निज तत्त्व है वस्तुतः साध्य।

अन्तस्तत्त्वकी साध्यता—हमें इस अन्तस्तत्त्वको किस विधिसे साधना चाहिए? जो कि अभेद षट्कारक विधियोंमें बात आती है उस विधिसे हमें स्वभावको साधना चाहिए। तो साध्य है यह अन्तस्तत्त्व, जिसके फलमें प्राप्त होता है निर्मल सिद्ध प्रभुत्व परिणमन। वह है साध्यका फल। साध्यकी जो प्रक्रिया बनाया है, साधनकी जो बात की है, वह उसका फल है। यहाँ इस बातको भी सतर्कतासे जानना चाहिए कि जो यह कह दिया जाता है कि साध्य तो वह सिद्ध अवस्था है और साधक यह भाव है। तो भी वह विधि नहीं आ सकी है कि जिस विधिसे प्रभुता पायी जा सके। यों ७ राजू ऊपर, लोकके अन्तमें दृष्टि लगाये रहे वह है सिद्ध पर्याय। वे प्रभु अनन्त चतुष्टयके धनी हैं। अच्छा तो उसे साध्य बना लोगे क्या? उसको क्या कर लोगे? पकड़ नहीं सकते, वहाँ पर जा नहीं सकते, उसका वहाँ उपयोग नहीं ले सकते। तो वह क्या साध्य बन आयेगा? वह भी ज्ञेय रहा, साध्य न रहा। साध्य तो यह अन्तः प्रकाशमान स्वरूप है ज्ञानमात्र। इस ज्ञानमात्र अन्त-स्तत्वको ऐसा ही अनुकूल ज्ञानोपयोग करके साधना है तो ऐसा साध्य साधक भाव मेरा कहीं बाहर नहीं पड़ा है। यह मैं साधक हूं और यही मेरे द्वारा साध्य है, आराध्य है। कभी भी कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थको स्ववश नहीं कर सकता। किसी भी पदार्थमें यह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सामर्थ्य नहीं है कि वह किसी परपदार्थकी रंचमात्र कुछ परिणतिको कर दे। भले ही निमित्तनैमित्तिक विधियाँ हैं, लेकिन किसी भी परद्रव्यमें यह सामर्थ्य नहीं कि किसी परके द्रव्यरूप, गुणरूप, पर्यायरूप कुछ तो कर दे, उस परिणमनमें सहयोग दे दे, उसके परिणमन में कुछ अपना योगदान तो कर दे। नहीं कर पाते हैं। तो इसी तरह कुछ भी साध्य कर सकेंगे तो केवल अपनेको साध सकेंगे, दूसरेको हम नहीं साध सकते।

प्रभुकी आराधनाका प्रयोजन अन्तस्तत्त्वकी आराधना—प्रभुकी आराधना स्वयंकी साधनाके उद्देश्यसे हुआ करती है कि क्या प्रभुको साधना है, प्रभुका प्रभुत्व करना है क्या, प्रभुको प्रसन्न बनाना है क्या? अरे प्रभु तो एक प्रतिच्छन्द हैं, एक आदर्श हैं, प्रतिबिम्ब हैं। जैसे दर्पणको हम निरखते हैं और निरख करके पता पड़ गया कि मेरे सिरमें यह दाग लगा है या कलई लगी है, तो वह देखनेवाला उस कलई या अन्य किसी चीजके दागको छुटाता है या वह उस दर्पणको छुटाता है, क्योंकि वह दाग दिख तो रहा है दर्पणमें और दिख रहा उसी जगह। तो जिस जगह दिख रहा है क्या वह अपनी कालिमा दर्पणमें छुटाता है? लो यहाँ तो यह बड़ा बुद्धिमान बना हुआ है, कैसा? कि जब वह दर्पणको देखता है तो वहाँ बालोंको देख रहा है तो सम्हालता है वह अपने बालोंको। अगर कोई मल लगा है तो साफ करेगा अपने देहको, अपने सिरपर हाथ फेरेगा। तो इसी तरह प्रभुका ध्यान करके, प्रभुके स्वरूपको देख करके हमें कालिमा विदित हुई। कहाँ विदित हुई? विवेकी जनोंको अपने आपमें विदित होती। किन्तु लौकिक जनोंको होती तो हो चाहे उनको भी विदित, लेकिन जो ऊपरी ढंगसे आराधना करनेवाला है उसको कहीं बाहर विदित हो रहा है। कहीं भी बाहर इन पदार्थोंमें मोह है, इन पदार्थोंमें राग है, इनमें अमुक है, इस तरह देख रहे हैं लोग, लेकिन अपनेको छोड़कर बाहर उन दोषोंको पोंछनेकी कोई विधि, कोई काम बना सकेगा क्या? अपने आपमें अपने दोषको पोंछना पड़ेगा, दूर करना पड़ेगा। तो प्रभुकी आराधना तो अपने दोष दर्शन करके दोषोंको दूर करनेके लिए है और अपने गुणदर्शन कराके उनको उपलब्ध करनेके लिए है। कर्तव्य यह है कि अपने दोषोंको यहाँसे छोड़ें और गुणों का आलम्बन करें। तो इस प्रकार वही आत्मा साधन है, यही आत्मा साध्य है। किन्तु शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्मामें साध्यसाधकका भेद ही नहीं है।

आत्मामें रागादि भावोंकी वास्तविकता या प्रतीतिमात्रता—इन दो प्रश्नविकल्पोंमें बीसवीं जिज्ञासा—अब २० वीं जिज्ञासामें यह जाननेका यत्न किया जा रहा है कि आत्मा में जो ये रागादिक भाव नजर आते हैं, ये क्या केवल प्रतीतिमात्र ही हो रहे हैं या वास्तवमें रागादिक भाव होते हैं। ऐसी जिज्ञासा होनेका आधार यह है कि जब आत्माके सहज शुद्ध स्वरूपका वर्णन सुनते हैं तो उस वर्णनको सुनकर यह धारणा बनती है कि आत्मा तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सहज ज्ञानस्वरूप ही है। उसमें इन रागादिक विकारोंका कोई प्रसंग नहीं है और ऐसा स्पष्ट शब्दोंमें कहा भी गया है कि रागादिक विकार आत्माके स्वभावमें नहीं हैं, तो जो बात वस्तुमें होती है वह तो एक ही होती है। वहाँ फिर दूसरी बात न चलना चाहिए। ऐसी स्थितिमें रागादिक विकार यदि दिखें भी तो यों समझना चाहिए कि प्रतीतमात्र हुआ है, और उसके लिए दृष्टान्त भी यह मिल सकता है कि जैसे स्फटिकमणि शुद्ध स्वच्छ सफेद होती है। उसके पीछे यदि कोई लाल पीला कागज लगा दिया जाय तो उस स्फटिकमें भी लाल पीला रंग नजर आता है, किन्तु वहाँ समझमें यह आ रहा है कि स्फटिक तो जैसा था वैसा ही है सफेद स्वच्छ, पर यह लाल जैसा प्रतीत हो रहा है। वहां यह विदित होता है कि यह लाल प्रतीत हो रहा है। यों ही शुद्ध ज्ञानस्वभाव आत्मामें यह प्रतीत होता है कि यह राग है, क्या इस तरह प्रतीयमान होता है अथवा वहाँ वास्तवमें है, जैसे दर्पणमें मुख का प्रतिबिम्ब हुआ तो दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब साफ नजर आता है, क्या इस तरहसे रागादिक विकार आत्मामें हैं ? ये दो प्रकारके प्रश्नविकल्प इस जिज्ञासामें हुए हैं।

द्रव्यदृष्टिसे रागादिककी प्रतीतिमात्रता व पर्यायदृष्टिसे वस्तुगतता—अब उक्त प्रश्न विकल्पोंका समाधान देखिये—रागादिक भाव आत्मामें क्या प्रतीत मात्र होते हैं ? इसका भाव यह बताया गया था कि जैसे स्फटिक मणिमें लाल पीली आदिक उपाधि प्रतीतमात्र होती है सो ठीक है। यदि द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतासे निहारा जाय तो वहाँ यही निर्णय होगा कि रागादिक विकार हैं ही नहीं। और होनेकी बात कोई लाये तो भी प्रतीतमात्र होता है, जिसको इन शब्दोंमें कहा गया 'रागादिक विकार बाहर ही लोटते रहते हैं.' उसका तात्पर्य यह है कि विकारका स्वभाव नहीं बन जाता और सहज स्वभावमें विकार नहीं पड़ा हुआ है, इस बातकी पुष्टि इस तरहसे होती है कि जो पहिले १३ वें परिच्छेदमें शक्तियोंका वर्णन आया था तो वहाँ यह झाँकी मिली थी कि आत्माकी शक्ति आत्माको विपरीत बनानेके लिए नहीं हुआ करती है। शक्ति वास्तवमें वह होती है कि जिसको अपना काम करनेके लिए आप ही निमित्त बन जाय, आप ही उपादान हो, आपही निमित्त हो। इसका भाव यह है कि किसी अन्य द्रव्यकी निमित्तताकी प्रतीक्षा न हो। अन्य उपाधि जहाँ निमित्तभूत न हो रहा हो और फिर जो परिणमन हो, वास्तविक शक्ति तो उस कामकी कही जायगी। तो इस दृष्टिसे भी यह बात पुष्ट होती है कि आत्मामें रागादिक विकार नहीं हैं, प्रतीतमात्र होता है, किन्तु पर्यायदृष्टिसे निरखने पर तो यह निर्णय होता है कि आत्मामें जिस समय जो पर्याय होती है आत्मा उस पर्यायमय हो जाती है। क्रोधके समय क्रोधमय है, मान, माया लोभ आदिकके समय मान, माया, लोभ आदिकमय है। पर्याय कोई इसके एक अंशमें किसी जगहमें प्रदेशमें या ऊपरके प्रदेशमें या प्रदेशपर पर्यायें होती हों, ऐसी बात नहीं है। वह

Version 1

द्रव्य ही पूरा परिणम रहा है। आकाररूपसे परिणम रहा, भावरूपसे परिणम रहा, जिस भावरूपसे परिणम रहा है उस भावमय वह आत्मा है और इस तरहसे एक ही क्षणमें यह आत्मा ज्ञानपरिणमनमय है, चारित्रपरिणमनमय है। जो जो भी परिणमन होते हों, भले बुरे उन सब परिणमनोंमय है वह आत्मा। कहीं वे पर्यायें आत्मद्रव्यसे जुदी जगहमें प्रतीत होती हों, ऐसी बात नहीं है।

जिज्ञासूक्त दृष्टान्तमें व दार्ष्टान्तिमें प्रतीतिमात्रता व वास्तविकताका घटन—उक्त विषयमें जो दृष्टान्त दिया गया है जिज्ञासु द्वारा उसपर भी विचार कीजिए। पहिला दृष्टान्त यह था कि स्फटिकमणिमें लाल पीले आदिक रंग फैले हुए हैं। उपाधि लगी हो तो वहाँ वह वास्तवमें नहीं है। तो इसके भी तो दोनों ही उत्तर हैं। जब स्फटिक मणिके स्वभाव को निरखते हैं तब यह विदित होता कि यह लाल पीली उपाधि वहाँ प्रतीत मात्र हो रही है। वह लाल पीली आदिक मय नहीं हो गयी है। किन्तु जब पर्यायदृष्टिसे विचार करते हैं तो उपाधिका सम्बन्ध होनेपर वह स्फटिक मणि भी उस लाल पीली उपाधि वाली हो गयी है। मगर वह लाल पीलापन औपाधिक है, नैमित्तिक है, इसलिए उपाधिके हटानेपर फिर वह रंग अलग हो जाता है, और उपाधिके लगानेपर फिर वह रंग आ जाता है, इस तरह निमित्तकी उपाधि हटनेपर उस नैमित्तिकका अभाव निरखकर यह कहा गया है कि स्फटिकमें लाल, पीला आदिक रंग नहीं हैं, किन्तु जिस समय उपाधि लगी है उस कालमें स्फटिकमणि एक लालरूप बन रही है, और उसका यह बनना इसके नैमित्तिक होनेके कारण दृष्टि चूँकि कुछ निमित्ततापर भी लगी हुई है अतः यहाँ यह निर्णय करना कठिन बन रहा है कि उस कालमें तो वह उस रंगमय है, इसी तरह द्रव्य-दृष्टिकी प्रधानता रखनेवाले ज्ञानी पुरुषके यह निर्णय बना है कि रागादिक विकार आत्मा में नहीं हैं, ये आते हैं, नैमित्तिक भाव हैं और निमित्तके दूर होनेपर नष्ट हो जाते हैं, यह सब विदित हो रहा है, किन्तु उपाधिके सन्निधानके समयमें तो यह आत्मा रागमय, द्वेषमय आदिक अनेकमय हो ही रहा है। यों आत्मा द्रव्यदृष्टिसे निरखा जानेपर तो ऐसा विदित होता कि इसमें रागादिक प्रतीत भर होते हैं, वास्तवमें नहीं हैं और पर्यायदृष्टिसे निरखनेपर इस आत्माकी इस समय क्या अवस्था हो रही है? वहाँ यह विदित होता है कि रागादिक भाव आत्मामें वास्तवमें हैं, वस्तुगत हैं, उस समयमें उस रूप वहाँ परिणमन है।

रागादिककी प्रतीति व वस्तुगतता इन दोनोंका निर्णय होनेपर आलम्ब्यदृष्टिका समीक्षण—उक्त निर्णयके बीच हमको अधिकतर किसकी ओर प्रमुखतया झुकना है? तो सुनिये—पर्यायदृष्टिसे आत्मा क्रोधमय है, यह बात जान ली, किन्तु इसीका ही चिन्तन, इसी का ही लक्ष्य रखकर सिद्धि क्या होने की है? वास्तविक बात है, अतएव परि-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञान कर लिया यह भी कुछ जरूरी था। हो गया परिचय, मगर रागादिकमय ही आत्मा है, इस प्रकारके चिन्तनसे, आश्रयसे, ध्यान बनाये रहनेसे आत्माकी क्या सिद्धि होती है? जब इस बातपर दृष्टि देते हैं तो भले ही एक उससे लगी हुई दूसरी साइडका ध्यान लेकर कह दें कि इससे यह सिद्ध है कि जिसने यह माना कि आत्मा रागमय है तो उसको यह ध्यान होगा कि यह राग निमित्तसे नहीं आया, परवस्तुसे नहीं आया, लेकिन यह बिल्कुल अलग साइड है इस तरहकी बात जोड़ने की। और इस तरह जोड़कर भी इतने मात्रसे तो सिद्धि नहीं बनती। उसके साथ यह भी ध्यान होता है आत्मामें स्वभावतः राग नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक भाव माननेका प्रयोजन क्या है? उसका प्रयोजन यह है कि यह निर्णय हो जाय कि यह भाव नैमित्तिक है, आत्मामें स्वभावतः नहीं पड़ा हुआ है। तो निमित्तनैमित्तिक भाव की चर्चा करनेका भी प्रयोजन यही है कि हम अविकार स्वभावका परिचय पा लें। लेकिन इतनी बातें तो अभी इस प्रश्नविकल्पके साथ चलायी न थीं। तो यहाँ तो यह मीमाँसा की जा रही है कि आत्मा रागमय है, इस तरहके चिन्तनसे यह अपनेमें उत्कर्ष क्या कर लेगा? और जब पहिली बात विचारते हैं कि आत्मामें रागादिक विकार स्वभावतः नहीं हैं, यह प्रतीत होता है तो इस दृष्टिमें इसके उत्कर्षका अवसर होता है। अतः मुख्यतया हमारी दृष्टि होनी चाहिए द्रव्यदृष्टिकी, लेकिन एकान्त कहीं हो न जाय, जो कि लक्ष्यपर पहुंचानेमें बाधक है एकान्त। उस एकान्तको मिटानेके लिए पर्यायदृष्टिसे जो बात होती है उसका परिज्ञान करना चाहिए। अन्यथा अर्थात् जो पर्यायदृष्टिकी बात बिल्कुल ही नहीं मानता है उसको शल्य रह सकेगी क्योंकि पर्यायकी बात गुजर रही है, उसे मना तो किया नहीं जा सकता है। और मंतव्यमें उसे मना कर रखा है तो भले ही द्रव्यदृष्टिके एकान्तसे अद्वैतकी बात, ब्रह्मकी बात कही जाय, लेकिन यह भीतरकी शल्य जो ज्ञानविरुद्ध बात बना ली है उस शल्यसे वह आगे न बढ़ सकेगा। सो पर्यायदृष्टिसे हम उसका परिचय कर लें और उसके पश्चात् फिर हम द्रव्यदृष्टिका एक सत्य आग्रह बना लें वह लाभकारी बात है। तो हमको कर्तव्य यह है कि पर्यायार्थिकनयका विरोध न करके मध्यस्थ होकर द्रव्यदृष्टिका आलम्बन लेकर मोहको दूर करें, इन विकारोंसे अपनेको विविक्त अनुभव करें, इससे आत्मसिद्धिका अवसर मिलता है।

मन और बुद्धिकी प्राकृतिकता या स्वाभाविकताकी जिज्ञासा—अब २१ वीं जिज्ञासा में यह जाना जा रहा है कि रागादिक विकार आत्मामें बताये गए हैं और रागादिक विकारों में मन आदिक भी उपलक्षित हो जाता है, क्योंकि मन और बुद्धि भी आत्माका स्वभाव नहीं है। तो रागादिक विकार जो विपरीत जैसे लग रहे हैं, कषाय आदिक जिनमें चेतने का कुछ सम्बन्ध नहीं विदित होता, उनकी बात तो बता दी, लेकिन उन विकारोंकी तरह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जो मन और बुद्धि पाये जा रहे हैं वे प्राकृतिक हैं या स्वभाविक। यद्यपि प्राकृतिक और स्वाभाविक ये सब पर्यायवाची शब्द जैसे विदित हो रहे हैं। लोकव्यवहारके अनुसार जिसको कह देते हैं प्राकृतिक, उसीको कह देते हैं स्वाभाविक। इन दोनोंमें लोग अन्तर नहीं समझते। किन्तु शब्द दो हैं और भिन्न-भिन्न धातुओंसे बने हुए हैं। तो इनमें अन्तर अवश्य है। और वह अन्तर क्या है उस जिज्ञासाके समाधानके साथ समझमें आ ही जायगा कि प्रकृति किस अर्थ को लेती है। यहाँ जिज्ञासुका प्राकृतिक और स्वाभाविक कहकर एक थोड़ासा अन्तर लिया हुआ ख्याल बना हुआ है—प्राकृतिक कुछ परिस्थितियोंमें कुदरतन हो गया है, यह उसका भाव है और स्वाभाविक माने परिस्थितियोंकी जहाँ कोई अपेक्षा नहीं है फिर कुदरतन हो गया है, कुछ ऐसा ही ख्याल लेकर जिज्ञासु की यह जिज्ञासा हुई है कि मन और बुद्धि प्राकृतिक हैं या स्वाभाविक ?

उक्त जिज्ञासाके समाधानमें मन और बुद्धिकी प्राकृतिकताका समर्थन—अब उक्त जिज्ञासाके समाधानमें सुनो—मन और बुद्धि ये विकार हैं, पहिले तो यह निर्णय होना चाहिए सही। यद्यपि बुद्धि नाम ज्ञानका है और ज्ञान आत्माका सहज स्वभाव है, लेकिन बुद्धिका अर्थ ज्ञान करना एक व्यावहारिक ढंगसे है। वस्तुतः बुद्धिका अर्थ जुदा है, ज्ञानका अर्थ जुदा है। जो विकल्पसहित जानकारी की जा रही हो, जिसमें इष्ट अनिष्ट आदिक वासना संस्कार भी साथ पड़े हुए हों, इस तरह जो जानकारी की जा रही हो वह तो है बुद्धि और जहाँ इष्ट अनिष्ट आदिक वासनायें नहीं हैं ऐसा जो जानन चलता हो उसे कहते हैं ज्ञान। तो यहाँ उस ज्ञानके सम्बन्धमें बात नहीं कही जा रही, किन्तु बुद्धिके सम्बन्धमें कहा जा रहा है, तो बुद्धि विकार हुआ। इसमें विकारके लिए उपाधि बनी मोह रागद्वेष। यद्यपि बुद्धिका उदय ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है और उस क्षयोपशमके कारण इसमें विकार नहीं आते। उसका काम तो एक जाननमात्र है। तो इस बुद्धिमें जो विकार आये हैं वे मोह रागद्वेषके सम्पर्कसे आये हैं, ऐसी वह बुद्धि और यही कहलाया भावमन। जिस मनमें यह विकल्प होता है, जो द्रव्य मनका एक आधार पाकर होता है वह हुआ मन। मन और बुद्धि कुछ हद तक एक कहलाते हैं और कुछ अंशोंमें ये भिन्न-भिन्न कहलाते हैं। बुद्धिका सम्बन्ध एक जाननसे है और मनका सम्बन्ध रति अरति और कुछ प्रीति अप्रीति आदिकसे बना हुआ है। मन और बुद्धि इनमें मनका आश्रय निमित्त है। द्रव्यमन और बुद्धिका आश्रय है—पञ्चेन्द्रिय और मन। किसी बुद्धिमें आधार है मन और मनका आधार है वह एक द्रव्यमन। मन तो सर्व संसारियोंमें न होकर संज्ञी जीवोंमें ही होता है, बुद्धि सब संसारी जीवोंमें है। इस तरह भी मन और बुद्धिमें अन्तर कुछ ज्ञात होता है। तो ऐसे मन और बुद्धिके सम्बन्धमें यह जिज्ञासा होती है कि यह प्राकृतिक है या स्वाभाविक ? इसका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समाधान यह है कि मन और बुद्धि आदिक विकार ये कर्मप्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं, इस कारण ये प्राकृतिक कहलाते हैं।

प्राकृतिकताका प्रमाणसम्मत अर्थ—प्राकृतिक क्या ? जो प्रकृतिका निमित्त पाकर उत्पन्न हो। वह प्रकृति क्या है ? यह द्रव्यकर्म। तो द्रव्यकर्म प्रकृतिके निमित्तसे मन और बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। इस कारण इसे प्राकृतिक कह देनेमें संशय नहीं रह सकता है। जो लोग प्राकृतिकका अर्थ एक स्वाभाविक या स्वयं कुदरतसे हो गया इस तरह मानते हैं तो वहाँ कुछ भी वह निरखता है। जैसे प्राकृतिक दृश्य, पहाड़, नदी आदिक जो बहुत सुहावने लगते हैं, जिन्हें देखकर लोग कहते हैं कि यह तो प्राकृतिक दृश्य है। उसका भी यही अर्थ है कि कर्मप्रकृतिके उदयसे निर्मित यह सब रचना है। कितने सुन्दर रंगबिरंगे फूल पत्ते हैं, बड़े सुहावने ढंगसे पहाड़की रचना है, जहां झरने झर रहे हैं। ये सब बातें जो एक प्राकृतिक दृश्यके लिए लोग अन्तर्भूत करते हैं, वे सब प्राकृतिक हैं ही। अर्थात् कर्म प्रकृतिके उदयसे वहां एकेन्द्रिय जीवोंको इस इस प्रकारका शरीर प्राप्त होता है। तो प्राकृतिकका अर्थ है कर्मप्रकृतिके निमित्तसे होने वाला भाव। तो ये मन और बुद्धि इस तरह प्राकृतिक हैं, किन्तु ये आत्माके सहजभाव नहीं हैं, नैमित्तिक भाव हैं और नैमित्तिक भावको पौद्गलिक कहा गया है, तो ये मन, बुद्धि, विचार तरंग ये आत्मामें स्वाभाविक नहीं हैं, सहजभावसे स्वयं नहीं हैं। इस तरहसे ये विकार स्वाभाविक नहीं कहलाते। इसी कारणसे मन, बुद्धि, आदिक प्रकृतिके विकार माने गए हैं। जिस सिद्धान्तमें केवल दो तत्त्व माने गए हैं मूलमें प्रकृति और पुरुष। उसने भी इस बातकी घोषणा की है कि अहंकार, बुद्धि, इन्द्रिय आदिक ये सब प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं, तो "प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं" यह बात शब्दसे तो ठीक बैठ गई, लेकिन वह प्रकृति क्या है ? प्रकृतिका स्वरूप किमात्मक है, यह निर्णयमें नहीं कर पाया। वह प्रकृति है यह कर्मप्रकृति। जीवमें रागद्वेषादिक भावोंका निमित्त पाकर जो कर्मबन्धन है और उन कर्मोंमें भिन्न-भिन्न प्रकृति पड़ती है, ये कर्म ज्ञान को न होने देंगे। जब उदयमें आयेंगे तो ये कर्म शरीररचनाके कारण होंगे इत्यादिक रूपसे वहां मौलिक आठ प्रकितयाँ पड़ी हुई हैं और फिर उनमें भी कुछ कुछ अन्तरके साथ अनेक प्रकृतियां होनेसे १४८ प्रकृतियां हो जाती हैं और उनमें भी कुछ-कुछ अन्तरके साथ प्रकृतित्व निरखनेपर असंख्याते प्रकृतियां हो जाती हैं। ऐसी प्रकृतियोंके निमित्तसे जो रचना हुई है उसको प्राकृतिक कहते हैं।

मन और बुद्धिकी प्राकृतिकताके निर्णयका उपसंहार—मन, बुद्धि आदिक ये भी प्रकृतिके निमित्तसे हुए हैं, अतएव प्राकृतिक हैं, लेकिन आत्माके सहजभावमें ये नहीं हैं, इस कारणसे ये स्वाभाविक नहीं हैं। कर्म प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होनेपर मन बुद्धि आदिक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ये जो कुछ हुए हैं ये आत्माकी शक्तिकी तरंगें हैं, सो हैं वे तरंग, लेकिन ये आत्मामें जो तरंग आये हैं ये भी पर्याययोग्यतासे आये हैं केवल आत्मामें इस प्रकारकी शक्तियाँ नहीं हैं कि उसको परनिमित्तकी अपेक्षा न रहे, स्वयं ही निमित्त बने और स्वयं ही उपादान रहे और इस स्थितिमें यह चीज होती रहे, ऐसे नहीं हैं ये बुद्धि विचार आदिक। जब कि केवलज्ञान, केवलदर्शन आदिक शुद्ध परिणमन इनके लिए बाहरी कोई निमित्त नहीं हैं। इसलिए यह ही आत्मा निमित्त है, यह ही आत्मा उपादान है, यह आत्मा उपादान है। यह बात तो सर्वसम्मत है, केवलज्ञान आदिक शुद्ध परिणमनोंका उपादान आत्मा है, लेकिन यही आत्मा निमित्त है, यह कथन "बाह्य निमित्त नहीं है," ऐसा स्पष्ट करनेके लिए ही कहा गया समझना चाहिए। अन्यथा एकत्वमें निमित्त कहनेकी आवश्यकता क्या है ? उपादान है। उसमें निरन्तर उत्पाद होनेकी सामर्थ्य है, इसलिए शुद्ध निर्मल निर्दोष होनेके कारण उस प्रकारके परिणमन निरन्तर चलते रहते हैं। यह कालद्रव्य निमित्त है, इस कथनका कुछ भी प्रसंग नहीं है, क्योंकि कालद्रव्य तो सभी द्रव्योंके परिणमनमें सामान्य निमित्त है, निमित्तपनेमें विचार किया जाता है किसी विशिष्ट पदार्थका। तो आत्माके ज्ञानादिकरूप परिणमनमें कोई विशिष्ट पदार्थ निमित्तभूत नहीं है, इस कारणसे यही आत्मा निमित्त है, यही आत्मा उपादान है उन शुद्ध परिणमनोंका और उन्हींकी शक्तियाँ वास्तविक शक्तियाँ मानी जायेंगी। तो इस आत्मब्रह्मकी शक्ति तो स्वभावतः इस प्रकार है, पर अशुद्ध पर्यायमें उस ही शक्तिका बल पाकर विचार तरंग आदिक रूप भी विकार उत्पन्न होता है। इसी कारणसे ये ब्रह्मके विकार, ब्रह्मकी पर्याय, ब्रह्ममें आराम उन दार्शनिकोंने माना है और इस दृष्टिसे है भी सत्य बात। लेकिन ये अनैमित्तिक भाव नहीं हैं। ये कर्मप्रकृतिका निमित्त पाकर उत्पन्न होनेवाले भाव हैं, इस कारणसे इन मन, बुद्धि आदिक विकारोंको भी स्वाभाविक न कहकर प्राकृतिक कहना चाहिए। प्राकृतिक कहनेसे निमित्तनैमित्तिकपनेका भी बोध होता है, और उससे विविक्त यह मैं अपने सहज स्वच्छ स्वभावमात्र हूं, इस प्रकारका परिज्ञान भी होता है। तो इस जिज्ञासाका समाधान यह हुआ कि मन, बुद्धि आदिक भाव प्राकृतिक हैं, किन्तु स्वाभाविक नहीं हैं।

मन और बुद्धिकी आत्मासे भिन्नता व अभिन्नताविषयक बाइसवीं जिज्ञासा—२२ वीं जिज्ञासामें यह जाननेका यत्न होगा कि मन और बुद्धि आत्मासे भिन्न हैं या अभिन्न ? मन और बुद्धिके सम्बन्धमें दार्शनिकताके नाते अनेक दार्शनिकोंमें यह बात प्रसिद्ध है कि मन और बुद्धि ये भिन्न पदार्थ हैं। जैसे मनको जुदा पदार्थ द्रव्यमें माना ही गया है विशेषवादमें और बुद्धिको आत्मासे पृथक् प्रकृतिवादमें माना है और यहां भी जब कुछ विचार करते हैं, निहारते हैं तो लगता है कि इसके मन अब कहाँ रहा ? दूसरा मन कुछ कह रहा। तो ये अनेक मन विदित हो जाते हैं। जैसे यह मन कल तो कुछ कह रहा था, आज कुछ कह रहा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है। तो ऐसे कारणोंसे जिज्ञासुको यह जिज्ञासा बनी कि यह मन आत्मासे भिन्न-भिन्न हैं, इसी तरह बुद्धिकी बात है। अनेक दार्शनिकोंने बुद्धिको, ज्ञानको आत्मासे पृथक् माना और यहाँ भी जब निरखते हैं तो बुद्धि कभी कम है, कभी अधिक। कभी वह बुद्धि मिट गई, नई बुद्धि बन गई, ऐसे जो उत्कर्ष अपकर्ष, सत्त्व, असत्त्व आदिक निरखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है जिज्ञासुको कि मानो आत्मा भिन्न है और ये मन, बुद्धि आदिक उससे भिन्न हैं। तो जुदा कहाँ रखा जाय ? जो भिन्न चीजें होती हैं उनका आधार भिन्न होता है। तो मन और बुद्धिका आधार भिन्न क्या है ? वह भी जब विदित नहीं होता तो इस स्थितिमें यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है।

मन और बुद्धिकी आत्मासे भिन्नता व अभिन्नताविषयक जिज्ञासाका समाधान—अब उक्त दो प्रश्नविकल्पोंमें आयी हुई इस जिज्ञासाका समाधान करते हैं। इस जिज्ञासाके समाधानमें पहिले यह सोचना होगा कि मन और बुद्धि है क्या चीज ? मन और बुद्धि ये आत्माके आत्मस्वरूपसे विपरीत परिणमन हैं। मन कहते हैं विचार करनेको, चिन्तन करनेको। जो विचार मिला है वह मन है और जो जानकारी है वह बुद्धि है। ये दोनों आत्माकी तरंग हैं, आत्मासे पृथक् नहीं हैं। तो आत्माके परिणमन तो हैं ये, पर आत्मस्व-भावसे विपरीत परिणमन हैं। आत्मा ध्रुव है तो मन और बुद्धि अध्रुव हैं, तो अब इस दृष्टिसे देखा जाय कि जब विपरीत परिणमन है और ये प्राकृतिक हैं, कर्मप्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुए हैं अथवा प्रकृतिके क्षयोपशमसे हुए हैं। क्षयोपशममें भी उदय शामिल है और जहाँ केवल उदय है वहाँ भी उदय है तो ये प्रकृतिका निमित्त पाकर हुए हैं और अध्रुव हैं, तो ये आत्मासे भिन्न कहलाये। यों कथंचित् आत्मासे भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न हैं। मन और बुद्धि इस आत्मब्रह्मकी तरंगें हैं, इस कारणसे मन और बुद्धिके विलासके समयमें ब्रह्मसे अभिन्न कहलाया। तो यह कथंचित् आत्मासे अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है।

वर्तमान प्राप्त मन और बुद्धिके सदुपयोगका अनुरोध—भैया ! जो वर्तमानमें मन और बुद्धि मिली है उस मिली हुई मन, बुद्धिके द्वारा हम अपने आपमें कोई ऐसा अपना विशुद्ध कार्य करें कि जिससे हमें सदाके लिए संकटोंसे छूटनेका मौका मिले। ये नष्ट तो होंगे ही। मन भी दूर होगा, बुद्धि भी दूर होगी। ये मिले हैं तो इनका हम दुरुपयोग न करें। दुरुपयोगका अर्थ है पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें मन और बुद्धिका लगाना अथवा किसी विषयमें किसीको अनर्थ करनेमें अपना मन और बुद्धि लगाना, ये सब मन बुद्धिके दुरुपयोग हैं। इससे आत्मकल्याणसे बहिर्मुख हो जाते हैं तब ऐसा सत्संगवास करना होता है और इस आत्मीय सत्संगमें अपने उपयोगको रमाये, यही है मन, बुद्धिका सदुपयोग। तो अध्रुव और अपने आपमें प्राप्त यदि यह तत्त्व मिला है तो हमें इस तत्त्वसे पूर्ण लाभ लेना चाहिए

http://sahjanandvarnishastra.org/

और इस ध्रुव आत्माका आश्रय करके, उसमें ही दृष्टि रखकर, उसमें ही मग्न होकर अपने आपको पवित्र बना लेना चाहिए।

मन और बुद्धिकी चिदाभासताका निर्णय—अब २३ वीं जिज्ञासामें उस ही मन, बुद्धिके सम्बन्धमें यह जानना है कि मन और बुद्धि चेतन हैं या अचेतन। जैसे अभी उक्त विवरण दिया है, उससे तो सिद्ध होता है कि यह चेतन है। जब इसमें ब्रह्मकी तरंग है तो यह चेतन है और जब ये चैतन्य आत्माका साथ नहीं निभाते हैं, हुए और मिट गए तो उससे कुछ संदेह होता है कि ये चेतन न होंगे तब ही तो ये चेतनसे अलग हट गए। तो ऐसी दुविधामें यह जिज्ञासा हुई है कि मन और बुद्धि चेतन हैं अथवा अचेतन ? समाधान इसका यह है कि चेतन कहेंगे किसको ? चेतन कहेंगे उसको कि जो सच्चिदानन्द ब्रह्मसे एकताको जोड़े, बस वह है चेतन। चैतन्यभाव जो आत्माके साथ एकत्वको जोड़े है वह चेतन ऐसा कौन है ? वह सहज ज्ञान दर्शन अथवा वह सहज स्वाभाविक परिणमन। ये आत्माके साथ एकताको जोड़ते हैं इस कारण ये चेतन हैं। लोकमें भी कहते हैं कि यदि कोई योग्य कार्य करे, विवेक पूर्ण रहे तो कहते है कि सचेतन बुद्धिमान नहीं। तो चेतन वह कहलायेगा जो इस चेतनके साथ एकताको जोड़े। तो मन और बुद्धिके बारेमें सोचें कि क्या यह चेतनके साथ एकताको जोड़ता है ? चेतन है नित्य ध्रुव और मन बुद्धि हैं अध्रुव। चेतन है निर्विकल्प और मन, बुद्धिका स्वरूप है विकल्प। चेतन है स्वतःसिद्ध। मन, बुद्धि है प्रकृति सिद्ध। तो जो एकताको नहीं जोड़ रहे हैं, स्वरूप निराला जिनका बन रहा है तो ऐसे मन और बुद्धिको चेतन नहीं कह सकते ? अच्छा चेतन तो नहीं कह सकते मन व बुद्धिको तब फिर यह बतलाओ कि अचेतन जो शेषके ५ पदार्थ हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इनमें से किसके साथ मन और बुद्धिने एकताको जोड़ा है ? क्या पुद्गलमें इनका एकत्व है मन और बुद्धिका ? नहीं है। अन्य धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्यमें भी नहीं है। तो लो अचेतनसे भी इसकी एकता नहीं है। अचेतन द्रव्यके ये परिणमन नहीं हैं, इस कारण इन्हें अचेतन भी नहीं कहा जा सकता। तब फिर क्या कहा जाना चाहिए ? कह दीजिए—इसको चिदाभास, चेतन नहीं, अचेतन नहीं, किन्तु झूठी चेतना। चेतन विवर्त है, इस कारण यह चिदाभास कहलाता है।

मन और बुद्धिमें उपयोगके एकत्वको न करनेका अनुरोध—उक्त विवरणसे हमें यह प्रकाश मिलता है कि हम अपने उपयोगके एकत्वको मन और बुद्धिमें न करें, मन और बुद्धिके बिना यद्यपि रह नहीं पा रहे, इससे काम भी ले रहे, पर सदा ऐसा सजग रहना चाहिए कि मन और बुद्धिमें निराला केवल सहज चैतन्यस्वरूप हूँ। यह चिदाभास है। जैसे कोई असली और नकली मिले हुए मोतियोंमें से नकलीको कहते हैं कि यह आभास है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और आभास जिसे बताया है वह धोखे से खाली नहीं है। जैसे बिल्कुल अलग डेले पत्थर हैं, उनसे क्या धोखा आयगा, पर मोतियोंमें मोतियोंकी शकल जैसी रहने वाली नकली मोती मिली हों तो धोखा वहां होगा। ठगा कोई कब जायेगा ? क्या बिल्कुल विपरीत स्वरूप वालेसे ठगा जायगा ? ठगा जायगा तो आभाससे। बिल्कुल पृथक् वस्तुसे न ठगा जायगा। तो ये मन बुद्धि चिदाभास हैं। जैसे लगता है कि यह ही मैं हूं, तो इसके द्वारा ही ठगाये जाते हैं। ठगाये जाना यही है कि हम अपने अविकार चित्स्वरूपको अपने उपयोगमें नहीं ले पाते हैं, यह ही इसका ठगाया जाना कहलाया। पर अपने इस सहजस्वरूपको उपयोगमें नहीं ले पाते हैं। इसका कारण है कि मन और बुद्धि इनका लगाव रहता है, इस कारण इस अनुपम अमृतपानसे हम वंचित रहा करते हैं। संसारके प्राणी इस मन बुद्धिके ही कारण तो जगतमें रुल रहे हैं, जिसके मन है उसके मन और बुद्धि दोनों हैं। जिसके मन नहीं है उसके बुद्धि तो है ही। एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर इन सर्व संसारियोंमें बुद्धि तो है, पर मन है संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें। जहां मन है वहां बुद्धिका और विशेष ढंगसे विकास होता है और जहां मन नहीं है वहां इसका उसके अनुरूप कार्य होता है। सभी संसारी जीव इस मन और बुद्धिके चक्रमें फंस गए हैं। इस चिदाभाससे निराला सहज ज्ञानज्योतिस्वरूप मैं हूं। यह अनुभव नहीं हो पाया है यही तो कारण है कि जगतमें ऐसे बेहताश डोल रहे हैं।

आत्मतत्त्वकी सविकारता, निर्विकारता व अविकारताकी जिज्ञासाका समाधान—अब २४ वीं जिज्ञासा पूछ रहे हैं कि आत्मा सविकार है या निर्विकार या अविकार ? सविकारका अर्थ है विकारसहित, विकारमय होना। आत्मामें विकार पड़ा है। निर्विकारका अर्थ है विकाररहित होना। आत्मामें से विकार निर्गत हो गये हैं, अब विकारोंका लेश नहीं रहा है। और अविकारका अर्थ है कि विकारोंका सत्त्व ही न था। उसका पहिलेसे ही अभाव है। इन तीनों स्थितियोंमें से आत्माकी स्थिति क्या है ? क्या वह सविकार है या निर्विकार या अविकार ? जैसे कि पूछा गया था कि आत्मा कर्मबन्धनसे युक्त है या वियुक्त है या अयुक्त है। युक्तमें बन्धन पड़ा है, वियुक्तमें बन्धन दूर हो गया और अयुक्तमें बन्धन था ही नहीं। पहिलेसे ही ऐसा ही सत् बना हुआ है। ऐसे ही यहाँ पूछा जा रहा है कि आत्मा सविकार है या निर्विकार या अविकार। इसका समाधान दो दृष्टियोंसे मिलेगा। निश्चय-दृष्टि और व्यवहारदृष्टिसे। निश्चयदृष्टिसे तो उत्तर होगा कि आत्मा अविकार है। यहाँ इस निश्चयका अर्थ है शुद्धनय। तो शुद्धनयसे ज्ञात हुआ कि आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप है, उसमें विकार नहीं हैं। जैसे चौकीका क्या स्वरूप है ? मैल सहित होना चौकीका स्वरूप है या मैलरहित होना या अपने स्वरूपमात्र होना ? तो मैलसहित होना यह चौकीका स्वरूप

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं। मैलरहित होना—ऐसा कहनेमें भी चौकी निजकी बात नहीं आ पायी। चौकी है क्या चीज? और चौकीका निज स्वरूप बताया गया तब चौकीका स्वरूप विदित होगा। ऐसे ही शुद्धनयसे आत्मा न विकारसहित है, न विकार रहित है किन्तु अविकार है, विकारका वहाँ नाम भी मत लगाओ। वह तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, और व्यवहारनयसे चूंकि सभी पदार्थ पर्यायमय सदा रहा करते हैं, पर्यायशून्य कोई पदार्थ नहीं होता। आत्मा भी सत् है, वह भी पर्यायशून्य न हो सकेगा, किसी न किसी पर्यायमय होगा ही। तो उस पर्यायदृष्टिसे देखते हैं तो आत्मा अशुद्ध पर्यायदृष्टिसे सविकार है और शुद्ध पर्यायदृष्टिसे निर्विकार है, अथवा इन तीन प्रश्नोंको निश्चयनयसे ही समाधानमें लिया जाय तो निश्चयनयके तीन भेद हो जायेंगे—परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय। निश्चयनयका स्वरूप है स्वाश्रितो निश्चयः—जो स्वके आश्रित हो, वैसा ही परिचय है उसे कहते हैं शुद्धनिश्चयनय। तो एक ही आत्माको निरख करके पर्यायको बताया जाय, गुणको बताया जाय, स्वभावको बताया जाय। कुछ भी बताया जाय, दूसरे पदार्थका आश्रय लिए बिना बताया जाय तो वे सभी निश्चयनय कहलाते हैं। तो परमशुद्ध निश्चयनयसे तो यह आत्मा अविकार है, विकारका उसमें सहित रहितपना न नजर आयगा। न अविकार है, न निर्विकार है, न अविकार है, किन्तु शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध पर्यायसे आत्माको देखा जा रहा है तो वह निर्विकार आत्मा विदित हो रहा है और अशुद्ध निश्चयनयसे आत्मा सविकार है। यहाँ अशुद्ध पर्यायार्थिकनयमें आत्मा ही देखा जा रहा है। इस प्रकार इन तीन नयोंकी दृष्टिसे आत्मा सविकार, निर्विकार और अविकार सिद्ध होता है।

आत्माकी सविकारता, निर्विकारता व अविकारतामें हेय उपेय उपाय तत्त्वका प्रतिपादन—आत्माका सविकारपना तो हेय है और निर्विकारपना उपादेय है और अविकारका आश्रय लेना उसका उपाय है। ये संसारकी अवस्थायें, ये दुःखमय हैं, सो सभी जन जानते हैं कि जीवोंको परेशानी, हैरानी क्या है? अपनेमें विकारभावका लाना यह ही परेशानी है और वे विकार जिसके जितने खराब होते हैं, जितने अधिक बुरे होते हैं वे उतने ही भीतरमें संक्लिष्ट हैं, दुःखी रहते हैं। तो सविकारपना हेय है और निर्विकार अवस्था मुक्त अवस्था उपादेय है। वह भी आत्मा है और हम आप भी आत्मा हैं। अब यही पर्याय दृष्टि से कितना अन्तर पड़ा हुआ है? चीज एक है जैसा वह है वैसा मैं हूँ, अमूर्त हूँ। सब बातें तो समान मिल रही हैं लेकिन एक परिणमनका अन्तर आ गया। यह कितना महान् अन्तर आ गया कि वह तो निर्विकार है। उसे कुछ विकल्प नहीं और वहां कोई व्यक्तरूपसे यहाँ निरख भी नहीं पाता, इतना वह सम हो गया, जिसके बारेमें कुछ दार्शनिक कहते हैं कि जैसे बूंद समुद्रमें मिल गया तो बूंदका अस्तित्व न रहा, वे सिद्ध प्रभु ऐसी समतामें आ गए

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि उनका स्वरूप, उनका अस्तित्व यों जल्दी-जल्दी लोगोंको विदित नहीं हो सकता। तब सोचिये तत्त्वनिर्णय और उस विनिश्चियमें अपने उपयोगको लगायेंगे तब ही जान पायेंगे और अनन्तोंको जान भी गए। उससे उतना लाभ नहीं है जितना एक सिद्ध स्वरूपको जान लेनेमें है। अनन्त सिद्ध हैं, पृथक्-पृथक् ऐसे विराजमान हैं। कोई साढ़े तीन हाथकी अवगाहनाका है, कोई ५२५ धनुषकी अवगाहनाका है, कोई इसके बीचकी कितनी ही अवगाहनाका है। एकमें एक समाये हुए हैं, सिद्धका वर्णन करते जाइये। उस व्यक्तिगत वर्णनसे वह स्वानुभवार्थी वह लाभ न ले पायगा जो कि सिद्ध शुद्ध चैतन्यस्वरूपके ध्यानसे लाभ ले लेगा। जहां व्यक्तियोंपर दृष्टि नहीं, किन्तु एक शुद्ध ज्ञानमय स्वरूपपर दृष्टि हो, उस दृष्टिसे यह अपने आपमें उतर कर अपने आपको स्वानुभवका अधिकारी निकट कालमें बना लेता है। तो सविकार अवस्था तो हुई हेय, निर्विकल्प अवस्था हुई उपादेय और उपाय क्या हुआ सविकारको हटानेका। निर्विकारको पानेका उपाय है अविकार स्वभावका आलम्बन। देखिये—कितना सुगम काम है? यह उपयोग सबका अपना-अपना अपनेमें है। यहां जान रहे हैं कि सब अपने आपमें बादशाह हैं। अब इससे हम जानकारीका काम अपने आपके स्वरूपके विषयमें लें तो यह कितनी सुगम बात है? और इसका कितना ऊँचा परिणाम होगा कि यह सदाके लिए संकटोंसे मुक्त हो जाय, केवल हो जाय। यह बात हो जायगी। केवलकी उपासनासे कैवल्य प्रकट होता है। कोई आत्माका कैवल्य तो चाहता है अर्थात् खाली आत्मा ही आत्मा रह जाय, यह अवस्था तो चाहता है और अन्दरमें देहादिकके लगाव बनाये हैं तो कैवल्य अवस्था कभी नहीं हो सकती। देहविविक्त सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र केवल अन्तस्तत्त्वका आलम्बन हो तो उसका इतना बड़ा प्रताप है कि भव-भवके कर्म निर्जीर्ण हो जायेंगे और इसका कैवल्य प्रकट हो जायगा। तो अविकार अवस्थाका आलम्बन सविकारको दूर करनेका व निर्विकारको पानेका उपाय है।

शब्दसंख्याके बराबर जिज्ञासाओंकी संभवता—अब इस परिच्छेद की समाप्तिके समय पहिले जो चर्चा आयी है उससे सम्बंधित यह जानकारी करना है कि जैसे अभी २४ जिज्ञासायें कही गई हैं, इस तरहसे क्या और विकल्प द्वारा भी आत्माका परिचय किया जा सकता है? और तो विचार किया जा सकता है तो कितने विकल्पों द्वारा? जितने वाचक शब्द हों, सम्भव जितने प्रवाचक शब्द हैं उतने ही विकल्प बन सकते और उतने ही विकल्पों द्वारा आत्मतत्त्वका परिज्ञान किया जा सकता है। सिद्ध प्रभुकी मूर्ति बनाते हैं तो कैसे बनाते हैं? १६ स्वर और ३३ व्यञ्जन और जो भी जिह्वामूलीय उपध्मानीय आ अनुस्वारादि हैं इन सबका यंत्र बनाया है, और उस यंत्रमें एक सिद्ध प्रभुकी प्रतिष्ठा करते हैं। अक्षरोंसे सिद्धका क्या मतलब होता? अरे प्रत्येक अक्षर सिद्ध प्रभुके वाचक हैं। सभी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अक्षरोंसे सिद्ध प्रभुकी महिमा जानी जा सकती है। कोई भी विशेषण लगायेंगे उसके पहिले कोई अक्षर तो है। कोई अकेला अक्षर वाचक है, कोई कुछ अक्षर मिलकर वाचक हैं। तो ऐसे ये मिलकर अक्षर सिद्धस्वरूपके वाचक हैं। तो सकल तो उनकी थी नहीं, केवल उनके जाननेके स्थान शब्द थे, तो उन शब्दों द्वारा मूर्तिकी प्रतिष्ठा की गई। जिसे कहते हैं शुद्ध जानना। तो जानना सम्बन्धवाचक शब्द है, इतने ही विकल्पके द्वारा आत्माका परिज्ञान किया जा सकता है। तो उनमेंसे कोई भी विकल्प, मूल प्रस्तावकी दृष्टि जिसके बारेमें कुछ समझना है तो उसके भी तीन उत्तर होंगे। एक जो प्रस्तुत वचन रखा वह एक और उसका प्रतिपक्षी एक और एक अनुभय। कोई भी विकल्प रखे, तीन प्रकारसे उनका उत्तर होगा, ऐसी नाना जो भी जिज्ञासायें हों उनका भी समाधान निश्चय और व्यवहारदृष्टिसे लगा लेना चाहिए।

शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपासनाका लाभ—इस परिच्छेदमें प्रारम्भमें यह जिज्ञासा की गई थी कि जिस शुद्ध आत्माके आश्रयसे मोक्षमार्ग चलता है उसका क्या स्वरूप है? उस स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि ऐसा शुद्ध आत्मतत्त्वका भी परिज्ञान करनेसे लाभ क्या होगा? किस शुद्ध आत्मत्वके ध्यानकी बात कही जा रही है? जो सर्वगुणभेदोंसे परे है, जो समस्त परिणमनोंसे परे है और यह शुद्ध है, इस प्रकार के विकल्पसे भी जो परे है, ऐसा जो निज शुद्ध आत्मतत्त्व है, उसका ध्यान करनेसे उसका ज्ञानमात्र करनेसे निर्विकल्प समाधि प्रकट होती है।

साधु परमेष्ठीके स्वरूपमें बताया है ज्ञानध्यानतपोरक्तः। साधु क्या होता है? जो ज्ञानध्यान–तपश्चरणमें रत हो। सबसे मुख्य काम है ज्ञान। ऐसा ज्ञान नहीं जो लोकमें प्रचलित है, किन्तु एक जाननमात्र, ऐसा केवल जाननमात्र रहना यह सिद्धका उत्कृष्ट काम है और इस काममें न रह सके तो ध्यान करें, लेकिन ध्यान दूसरे नम्बरका काम है और ध्यानमें भी न आये तो तपश्चरण करें, लेकिन अनशन आदिक तपश्चरण करें, यह तीसरे क्रममें आता है। तो उस ज्ञानकी बात कह रहे हैं कि उस शुद्ध अन्तस्तत्त्वका ज्ञान हो तो निर्विकल्प समाधि होती है, जिसका फल ही सदाके लिए अनन्त आनन्द प्रकट होना है। इसी ध्येयसे हम आपका एक जीवनमें दृढ़ निर्णय हो। मेरेको काम है केवल तो एक अपने आपका जो शुद्ध सहज स्वरूप है उसकी ओर बारबार आना, उसे निरखना, उसका आश्रय करना, ध्यान करना। वहाँ उपयोगको रख करके अपनेको शान्त और तृप्त अनुभव करना। यही उपाय है सदाके लिए संकटोंसे छुटकारा प्राप्त करने का।

॥ अध्यात्मसहस्री प्रवचन नवम भाग समाप्त ॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com